प्रथम कुसुम

गांधी गान।

"विश्व मोहलीनो है"

इस में "विश्व मोहलीनो है" नामक समस्या की "कुमार" "मिलाप" और "निर्बल" ने २५ कवित्तोंमें पूर्ति की है। इसकी केवल १००० प्रतियां छपाई हैं। इसलिये जल्दी कीजिये नहीं तो द्वितीयावृत्ति तक ठहरना पड़ेगा।

...न रख कर यदि मूल्य का ...है। इस पुस्तक को वा० पी० ...भेजने से पुस्तक बुक पोस्ट ...गी।

...मात्र)॥। ही लिया जाता

...कुसुम

...मीर

...कदलि फरै इक बार।,,
...चढ़ै न दूजी बार॥

...मकुमारलाल वर्म्मा। यह ...जीता जागता नमूना है यह ...तिहासिक घटना है इसके ...बहादुरी का नकशा खिंच ...उद्रेक हो आता है छपाई ...बनवाई गई है। पॅटिक

...नरसिंहपुर (म० प्र०)

द्वितीय पुष्प

नारी नीति।

(ले० पं० रूपनारायण जी पाण्डेय)

इस पुस्तक के दो भागों में शिक्षा उपयोगी ३८ शिक्षायें उत्तम प्रकार से वर्णित हैं। रंग ढंग और इसकी लेखन शैली निराली ही है। पुस्तक एक बार हाथ में लेकर छोड़ने को जी नहीं चाहता। स्त्री समाज के हितार्थ ऐसी ऐसी पुस्तकें ही उन्हें पढ़ने को देना चाहिये। मूल्य केवल ||=) आना है।

तृतीय पुष्प

महिला सप्त सरोज।

लेखक

पं० शुकदेवप्रसाद तिवारी 'निर्बल'

इसमें सुप्रसिद्ध गल्प लेखक श्रीयुत प्रेमचन्द्र जी के ढंग पर ७ गल्पें लिखी गई हैं।

पुस्तक के पढ़ने से स्त्री समाज पर होते हुए अत्याचार और उनके स्वत्वापहरण का खासा चित्र सामहने आजाता है। मूल्य केवल ।)॥ आना है।

गृहिणी भूषण।

स्त्री के आभूषणों में पति-प्रेम, आत्मीयता तथा अन्य उनके प्रति समुचित आदर, स्नेह और सुजनता, सतीत्व, सहन शीलता, दया, औदार्य, गृहकार्य दक्षता आदि उज्जवल रत्न न हों, तो वे सच्चे आभूषण नहीं हैं अतएव इन अमूल्य रत्नों को गुन्थित कर यह गृहणी-भूषण, तैय्यार किया गया है इस पुस्तक के उपदेश से आप का घर स्वर्गधाम बन जायगा। इस पुस्तक की दो आवृत्तियां हाथों हाथ बिक गई हैं अब तृतीयावृत्ति छप कर तैय्यार है। इस का मूल्य केवल ॥) आना है। पृष्ठ संख्या १५७ है।

लवकुश (नाटक)

यह एक प्रसिद्ध पौराणिक नाटक है। लवकुश के नाम प्रत्येक हिन्दू अच्छी तरह से जानता है। इस नाटक से इन वीर पुत्रों की शौर्य-गान तथा उनकी असाधारण वीरता, निर्भीकता इत्यादि पढकर मन में वीर-रस प्रवाहित होने लगता है। लेखक ने स्थल स्थल पर वर्तमान समाज का भी चित्र बड़ी खूबी के साथ अंकित किया है। इस पुस्तक का मूल्य I≈)

आज ही मँगाकर पढिए। रंग मंचों पर खेलने के लिए यह छोटा किन्तु सरल और बड़ा चित्ताकर्षक नाटक सिद्ध होगा।

हिन्दी साहित्य ग्रन्थमाला का ७ वां पुष्प

नाट्य-कला-दर्शन

लेखक
चन्द्रराज भंडारी "विशारद"

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य प्रचारक कार्यालय
नरसिंहपुर (म०प्र०)

मुद्रक
फकीरचंद नाथूराम रेजा
रेजा प्रेस नरसिंहपुर (म० प्र०)

प्रथमावृति १००० } १९३५ { मूल्य ॥।-)

भूमिका

आज नूतन वर्ष के उपलक्ष्य में हम पाठकों की सेवा में एक नवीन भेंट लेकर बड़े ही आनन्द के साथ उपस्थित हो रहे हैं। यद्यपि यह पुस्तक आज से करीब डेढ़ साल पहले लिखी जा चुकी थी। पर कई अनिवार्य्य बाधाओं के कारण यह इतने विलम्ब से पाठकों की सेवा में पहुँच रही है।

साहित्य में नाटक का स्थान कितना ऊँचा है यह बात बतलाने की आवश्यकता नहीं। प्रायः सभी पठित पाठक साहित्य के इस अङ्ग की प्रधानता को जानते हैं। सौभाग्य का विषय है कि हिन्दी जनता का ध्यान भी साहित्य के इस उपयोगी अङ्ग की ओर आकर्षित हुआ है। हिन्दी साहित्य में नाटक धड़ाधड़ निकल रहे हैं। खेद केवल इतना ही है कि इन निकलने वाले नाटकों में अच्छे नाटकों की संख्या आटे में नमक के बराबर भी नहीं है। अधिकांश नाटक गन्दे, अश्लील, एवं जनता की रूचि को बिगाड़ने वाले होते हैं। इस धींगाधींगी का मूल कारण यह है कि लोग नाटकों की उपयोगिता को तो बहुत समझ गये हैं, पर नाटक के असली तत्व को नहीं समझ पाये हैं। और इसी कारण परिणाम बिलकुल विपरीत हो रहा है। नाटक का क्या उद्देश्य है, उसका मूलतत्व क्या है, किस प्रकार इस अंग के द्वारा समाज का कल्याण हो सकता है, आदि बातों से अपरिचित होने के कारण लेखक इस ओर तो बिलकुल ध्यान नहीं देते, उनका ध्यान केवल जनता की रूचि एवं द्रव्यप्राप्ति की ओर रहता है। और यही कारण है कि हमारे हिन्दी साहित्य का नाटक अङ्ग बहुत अधःपतित हो रहा है।

लेखक भी क्या करें? हिन्दी साहित्य में नाटक के विधान को बतलाने वाले शास्त्रों का एकदम अभाव है। इस कारण जो लोग केवल हिन्दी ज्ञान पर ही नाटक लिखना चाहते हैं उनके लिए आदर्श और उपयोगी नाटक लिखना बहुत दुःसाध्य है। हिन्दी साहित्य भर में शायद दो ही छोटी २ पुस्तकें इस विषय की उपलब्ध हैं पहली भारतेन्दु बाबू की " नाटक" और दूसरी पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी की "नाट्य शास्त्र"। पर जहां तक हमारा ख्याल है ये दोनों ही पुस्तकें हमारे प्राचीन नाट्य शास्त्रों के आधार से लिखी गई हैं। उन में नवीनता की छाया बहुत कम है। लेकिन हमारा ख्याल है कि केवल प्राचीनता पर ही आश्रित रहने से जनता का वास्तविक लाभ नहीं हो सकता हम मानते हैं कि हमारे संस्कृत साहित्य में नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी बहुत ऊँचे दर्जे के ग्रन्थ विद्यमान हैं। हम मानते हैं कि हमारे पूर्वज इस कला की तह तक पहुँच गये थे फिर भी-इतना मानते हुए भी हम यह मानने को कदापि तैयार नहीं कि वर्तमान काल में केवल उन्हीं के आश्रय से हमारा कार्य्य चल सकता है। अब नाटकों के सैकड़ों और हजारों भेदों के पचड़ों में पड़ने से हम इस अङ्ग को उन्नत नहीं बना सकते। अब तो हमें काल और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन करना ही पड़ेगा। इस कला को नवीनता का रूप दिये बिना अब लाभ नहीं चल सकता। इसलिए हिन्दी साहित्य में नाट्य शास्त्र सम्बन्धी ऐसे ग्रन्थों की बड़ी ही आवश्यकता है जो प्राचीन एवं नवीन तथा पूर्व और पश्चिम के साहित्य का मन्थन करके नवीन ढङ्ग से लिखे गये हों। बाबू श्यामसुन्दर-दास बी. ए. ने अपने "साहित्य-लोचन" नामक ग्रन्थ में

इस शैली का अनुकरण किया है। उक्त ग्रन्थ में नाटक-तत्व की मीमांसा बहुत ही अच्छे ढङ्ग से की गई है। पर इस ग्रन्थ का विषय बहुत व्यापक है नाटक विषय इस का एक अङ्ग है।

अतः हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के ग्रन्थों का बिलकुल अभाव ही है। और यह भी निश्चित है कि इस अभाव ही की वजह से साहित्य में गन्दे नाटकों की संख्या बढ़ रही है। इस प्रकार के ग्रन्थों के अभाव को मिटाने का प्रयत्न करना प्रत्येक साहित्य सेवी का कर्त्तव्य है। जबतक इस विषय के ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में नहीं निकलेंगे, तबतक साहित्य पूर्ण नहीं हो सकता।

यह छोटी सी पुस्तक इसी उद्देश्य को सामने रखकर लिखी गई है। इस विषय में अपनी अयोग्यता को पूर्ण रूप से समझते हुए भी हमने यह दुस्साहस केवल इसी पवित्र उद्देश्य से किया है कि साहित्य के प्रकाण्ड पण्डितों का ध्यान साहित्य के इस अङ्ग की ओर आकर्षित हो। यदि हमारे इस उद्देश्य में तनिक भी सफलता हुई तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

इस पुस्तक को पढ़कर सम्भव है प्राचीनता के पक्षपाती कई पाठक रुष्ट होंगे। क्योंकि जहां इस में प्राचीन नाट्य-शास्त्र की अनेक बातों का अनुमोदन किया है वहां कुछ बातों का-जो हमारे मस्तिष्क को अनुचित मालूम हुई स्वतन्त्रता पूर्वक विरोध भी किया गया है। हमने यह कार्य केवल स्वाभाविक विचार-स्वातन्त्र्य के अधिकार से किया है। आशा है, पाठक इसके लिये हमें क्षमा करेंगे।

पहिले ही तो योग्यता की कमी के कारण ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर न हो सका उसके ऊपर प्रकाशक महोदय की कृपा से इस ग्रन्थ की रही सही सुन्दरता भी नष्ट हो गई। प्रार्थना करने पर भी प्रकाशक महाशय ने इस के प्रूफ़-सम्बन्धी सैकड़ों नहीं हजारों गलतियां इस पुस्तक में रह गई। मात्राएँ तो इतनी टूटी हैं कि उनका हिसाब नहीं। कहां तक कहें ग्रन्थ बिलकुल भ्रष्ट हो गया "गिलोय और नीमचढ़ी" वाली कहावत चरितार्थ हो गई।

हम हमारे प्रेमी पाठकों और सम्माननीय समालोचकों से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वे इस पुस्तक को विषय और भावों की दृष्टि से देखें। यदि वे लेखक पर कृपा करके उसके विचारों पर ध्यान देने की कृपा करेंगे तो उन को और लेखक को दोनों को सन्तोष होगा। इस पुस्तक में जो विचार सम्बन्धी भूलें हैं उनका जिम्मेदार लेखक है शेष प्रूफ़ सम्बन्धी और प्रेस सम्बन्धी भूलों के जिम्मेदार प्रकाशक हैं।

इस पुस्तक के लिखने में हमें भिन्न भिन्न भाषाओं की कई पुस्तकें और पत्रिकाओं से सहायता मिली है अतः हम उनके विद्वान लेखकों के अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

विनीत—

चन्द्रराज भण्डारी

"विशारद"

शान्ति मन्दिर, भानपुरा
चैत्र शुक्लाप्रतिपदा १९८२

विषय - सूची

विषय | पृष्ठांक

प्रथम अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पांचवां अध्याय

छटवां अध्याय

विषय | पृष्ठांक

विषय पृष्ठांक

दसवां अध्याय

ग्यारहवां अध्याय

बारहवां अध्याय

तेरहवां अध्याय

नाट्य-कला दर्शन।

प्रथम - खण्ड

प्रथम-अध्याय

साहित्य में नाटक का स्थान।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि शैली का कथन है कि "काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो-सम्बन्ध है वह नाटक में सब से अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस बात को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि, जो समाज जितना ही अधिक उन्नत होता है उसकी रङ्ग-शालाएँ भी उतनी ही अधिक संस्कारित होती हैं। किसी भी देश के नैतिक उत्थान और पतन का अनुमान उस देश के तत्कालीन नाटक साहित्य को देखने से सहज ही लगाया जा सकता है।" हमारी समझ में शैली साहब के उपरोक्त कथन में बिलकुल अतिशयोक्ति नहीं है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से नाटक-तत्त्व का अध्ययन करेंगे तो हमें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि, नाटक समाज के अन्तरिक और वाह्य जीवन का एक जीवित चित्र है एवं समाज की अन्तरात्मा को स्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित करने के निमित्त ही इसकी सृष्टि हुई है।

नाटक और इतिहास।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, प्राचीन कालके समाज के अध्ययन में इतिहास से भी बहुत कुछ सहायता मिलती है। पर नाटक की वर्णन शैली में इतिहास की वर्णन शैली से बहुत

विभिन्नता रहती है। इतिहास किसी भी जाति की भूतकालीन का अवस्था का "मृतचित्र" हमारे सम्मुख उपस्थित कर देता है। वह समाज की अतीत अवस्था का रक्त मांस विहीन एक निर्जीव अस्थि-पंजर हमारे हाथ सौंप देता है, बस यहीं पर उसका काम समाप्त हो जाता है। पर नाटक का काम इतने ही में समाप्त नहीं हो जाता। उसे उस अस्थि-पंजर में नवीन जीवन भरना होता है, उस अतीत गौरव को वर्त्तमान रूप देना होता है। दूसरे शब्दों में हम इसी बात को यों कह सकते हैं कि, इतिहास किसी जाति की अवस्था का "मृत्यु चित्र" है, और नाटक "जीवित चित्र"। इतिहास में भूतकाल की घटनाएं मृतक रूप से दिख-लाई जाती हैं, और नाटक में उन्हीं का जीवित रूप से वर्णन किया जाता है। "शरीर-विज्ञान" के "Post-Mortom Examination (मृत्यु के पश्चात् परिक्षण)" के द्वारा जिस प्रकार मनुष्य की जीवित अवस्था का बोध नहीं हो सकता, उसी प्रकार इतिहास के द्वारा भी प्राचीन समाज की जीवित अवस्था का बोध नहीं हो सकता। पर नाटकों के द्वारा समाज की तत्कालीन अवस्था का बोध सहज ही किया जा सकता है। और इसी कारण जातीय जीवन के निर्माण में वे इतिहास से अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं।

नाटक और उपन्यास।

नाटक, उपन्यास और महाकाव्य साहित्य की इन तीनों ही शाखाओं की रचना प्रायः समान ही उद्देश्य से की जाती हैं। समाज की अन्तरात्मा का वास्तविक विवेचन, मनुष्य के मान-सिक विकारों का [illegible] इतिहास एवं प्रकृति के सुन्दर दृश्यों

का सजीव वर्णन आदि सभी बातों का वर्णन करना इनका उद्देश्य रहता है। लेकिन उद्देश्य में समानता होते हुए भी इनकी रचना-प्रणाली में बहुत विभिन्नता रहती है। इनके सौन्दर्य्य में भी बहुत भेद रहता है। इस स्थान पर हम इन तीनों शाखाओं पर कुछ विचार करना उचित समझते हैं।

नाटक और उपन्यास की तुलना करने के पूर्व हमें यह बात अवश्य जान लेना चाहिये कि, नाटक-"दृश्य-काव्य" है और उपन्यास "श्रव्य-काव्य"। नाटक रचना करते समय रङ्ग-शाला की सब कठिनाइयों को ध्यान में रखना आवश्यक है। उसके तमाम नियमों का पालन करना नाटककार के लिये जरूरी है, पर उपन्यासकार इन नियमों से बिलकुल मुक्त हैं। उसकी रङ्गशाला उसकी किताब के साथ साथ ही रहती है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार कई आवश्यकीय अवसरों पर स्वयं भी किसी वस्तु का वर्णन कर सकता है, पर नाटककार इसके लिये बिलकुल परतंत्र है। नाटक में वह स्वयं अपनी ओर से कुछ भी कहने का अधिकारी नहीं। छोटी से छोटी बात कहलाने के लिये भी उसे पात्र की आवश्यकता रहती है। यहांतक कि, यदि उस समय उसे अनुकूल पात्र न मिला, तो नवीन पात्र की सृष्टि करना पड़ती है। इन कठिनाइयों के सिवाय और भी कई बातें ऐसी हैं जो नाटक रचना को उपन्यास रचना से अधिक दुर्गम बना देती है।

किसी भी अच्छे नाटक में इन छः गुणों का होना आवश्य-कीय है। (१) कहानी की एकता (२) कहानी की सार्थकता (३) घात प्रतिघात के साथ कहानी की गति (४) कवित्त्व (५) चरित्र चित्रण और (६) स्वाभाविकता।

हरएक उत्तम नाटक में कहानी की एकता का होना आवश्यक है। उसमें प्रधान रूप से एक ही विषय का वर्णन रहता है, अन्यान्य विषय उसके उपलक्ष्य मात्र रहते हैं। जैसे भगवान् बुद्धदेव का नाटक लिखते समय लेखक का मुख्य उद्देश्य रहता है अहिंसा और साम्यवाद का महत्त्व दिखलाना। यद्यपि उसमें राजा बिम्बसार के यज्ञ का दृश्य, देवदत्त की शिकार आदि विपरीत घटनाओं की अवतारणा भी की जाती है, पर उस अवतारणा का मुख्य उद्देश्य भी अनुकूल विषय को प्रतिपादित करना ही रहता है। जिस प्रकार अन्धकार के अस्तित्व के बिना प्रकाश का महत्त्व समझ में नहीं आता, उसी प्रकार इन प्रतिकूल घटनाओंके बिना अनुकूल घटनाओं की महत्ता प्रकट नहीं हो सकती। इसीलिये उसमें इन प्रतिकूल घटनाओं का समावेश किया जाता है। पर उसमें प्रधान चरित्र एक ही होता है। उपन्यासकार इस नियम को मानने के लिये बाध्य नहीं है। क्योंकि, उपन्यास में कई चरित्रों का भिन्न भिन्न चित्रण भी किया जा सकता है। यद्यपि उनकी गति भी प्रायः एक ही ओर को रहती है, तथापि वे एक दूसरे के आधीन नहीं रहते। वे सब भिन्न २ रूप से गति करने में स्वतन्त्र हैं। मतलब यह कि, उपन्यास में "कहानी की एकता" का कोई बंधा हुआ नियम नहीं है।

दूसरी विभिन्नता नाटक और उपन्यास में कवित्व सम्बन्धी है। उपन्यास का मुख्य विषय चरित्र चित्रण ही रहता है उसमें कवित्व पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। पर नाटक में चरित्र चित्रण की प्रधानता रहते हुए भी कवित्व की अनिवार्य्य आवश्यकता रहती है। उपन्यास कवित्व के बिना

भी अच्छी श्रेणी में रक्खा जा सकता है, पर नाटक कवित्व के बिना कदापि उत्तम श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता।

कहानी सम्बन्धी एक तीसरी कठिनाई नाटक रचना में और है। उपन्यासकार इस बात के लिये बिलकुल स्वतन्त्र है कि, वह अपनी कथा का विस्तार चाहे जितना बढ़ावे। वह चाहे तो अपनी कहानी को हज़ारों पृष्ठों तक बढ़ा सकता है। इसके लिये कोई उसकी निन्दा नहीं कर सकता। पर नाटककार इसके लिये भी स्वतन्त्र नहीं है, उसे अपनी कहानी को वहीं तक बढ़ाने का अधिकार है, जहां तक वह रङ्गशाला में सुविधा पूर्वक अभिनीत किया जा सके। यदि उसका अभिनय पांच छः घण्टे में समाप्त न हुआ, अथवा उसे देखते २ दर्शक उकताने लगे वह नाटक कभी सफल नहीं कहा जा सकता फिर चाहे उसके भाव कितने ही अच्छे क्यों न हों।

उपरोक्त कठिनाइयों के सिवाय और भी कुछ छोटी बड़ी कठिनाइएँ ऐसी हैं जो नाटक-रचना की दुर्गमता को बढ़ाती हैं। जिनका विवेचन स्थान की संकीर्णता के कारण हम यहां नहीं कर सकते।

अतएव सिद्ध हुआ कि, रचना शैली की दृष्टि से नाटक की रचना, उपन्यास की रचना की अपेक्षा अधिक कठिन है। वह कई प्रकार के कठिन नियमों में कसी हुई है।

महाकाव्य और नाटक।

नाटक की जिन छः आवश्यक बातों का ऊपर विवेचन किया गया है, उनमें से उपन्यास में "कहानी की एकता" और "कवित्व" को छोड़कर चार बातें प्रायः पाई जाती हैं। लेकिन

महाकाव्य में एक मात्र " कवित्त्व " को छोड़कर शेष पांच बातें उपलब्ध मात्र रहती हैं। महाकाव्य में कवि का मुख्य उद्देश्य कवित्त्व ही रहता है। चरित्र चित्रण तो उसमें नाम मात्र का रहता है। उदाहरणार्थ हम " प्रिय प्रवास " का नाम ले सकते हैं। " प्रिय-प्रवास " में यद्यपि कवि ने घटनावश कई चरित्रों की अवतारणा की है, पर उनका उद्देश्य केवल मात्र "चरित्र चित्रण" कर देना ही नहीं है। उन चरित्रों पर कुछ विशेष वर्णन करना ही उनका प्रधान उद्देश्य है। राधिका और यशोदा के विलाप में कृष्ण का वियोग केवल उपलब्ध मात्र है। कविका उद्देश्य तो एक प्रेमिक के वियोग में एक सच्ची प्रेमिका की जो अवस्था होती है उसका सजीव वर्णन कर देना, अथवा एक प्रतिभा शील एवं इकलौते पुत्र के वियोग में उसकी माता के हृदय में जो करुणा बढ़ती है उसका दिग्दर्शन करना भर ही रहता है। और उसी में वह अपने कवित्त्व का चरम विकास दिखला देता है।

केवल कवित्त्व की दृष्टि से यदि देखा जायगा तो महाकाव्य अवश्य नाटक से कुछ ऊँचा मालूम होगा। क्योंकि महाकाव्य की चना करते समय कवि केवल कवित्त्व के प्रभाव में बहता रहता है, उसे दूसरी बातों का भान नहीं रहता। पर नाटक-कार को तो चारों ओर निगाह रखना पड़ती है। कवित्त्व रखते समय भी उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि, कहीं ये मेरे विषय से बाहर तो नहीं जा रहा है, अथवा जरूरत से ज्यादा तो नहीं हो रहा है, आदि कई बाधाएं उसे पराधीन बनाए रखती हैं। इसलिये केवल कवित्त्व की दृष्टि से तो महाकाव्य के सम्मुख नाटक नहीं ठहर सकता। पर हां, यदि सर्वांग दृष्टि से देखा जाय

तो नाटक की रचना महाकाव्य से अधिक कठिन है। कवित्व के नियमों को छोड़कर महाकाव्यकार चारों ओर से स्वाधीन हैं—बाधाहीन है-स्वछन्द है, वह जिस समय अपने कवित्व का घोड़ा दौड़ाता है उस समय रास को छोड़ देता है, पर नाटककार का हमेशा एक ओर से चाबुक मारना पड़ता है, और दूसरी ओर से रास खींचना पड़ती है, वास्तव में नाटक-रचना का मार्ग बहुत ही दुस्तर है।

अतएव् सिद्ध हुआ कि नाटक रचना उपन्यास और महाकाव्य की रचनाओं की अपेक्षा कुछ अंशों में अवश्य कठिन है।

यह तो हुई रचना शैली सम्बन्धी तुलना। अब हमें यह देखना है कि, समाज सुधार के विषय में अथवा जातीय जीवन के निर्म्माण में नाटक कहां तक सहायक होते हैं।

उपन्यास, महाकाव्य, और नाटक ये तीनों ही शाखाएँ समाज-सुधार या जातीय जीवन के निर्म्माण में बहुत सहायक होती हैं। किसी भी समाज की आन्तरिक अवस्था को समझाने के लिये, अथवा उसकी नाशक प्रवृत्तियों का नाश करने के लिये ये तीनों ही शाखाएँ भिन्न २ रूप से कार्य्य करती हैं। लेकिन यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो हमें मालूम होगा कि, उपन्यास और महाकाव्य की अपेक्षा नाटक के द्वारा ये कार्य्य बहुत ही उत्तमता से सम्पादित हो सकता है। क्योंकि उपन्यास और महाकाव्य श्रव्य-काव्य हैं, और नाटक दृश्य-काव्य। एवं यह बात निश्चित् है कि, किसी घटना को केवल सुन लेने से वह प्रभाव नहीं पड़ सकता जो उसको आँखों के सामने देखने से पड़ता है। इसके अतिरिक्त दृश्य-काव्य होने से नाटक में जो

सजीवता और प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है वह उपन्यास और महाकाव्य में नहीं आ सकती।

कल्पना कीजिए, हमें जनता के अन्दर देश-प्रेम और वीरता का संचार करना है। हमें जनता के अन्दर फिर से उन्हीं भावों को जोश के साथ भरना है जो भाव राणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी ने शतधा और सहस्त्रधा होकर प्रवाहित हो रहे थे। एक महाकाव्य का रचयिता इन भावों पर एक सुन्दर काव्य की रचना करता है, और एक उपन्यासकार उनके मानसिक भावों पर एक बहुत क्रमबद्ध एवं सुन्दर उपन्यास तैय्यार करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, महाकाव्य की जोश पूर्ण कविता को पढ़कर लोग उत्साह-पूर्ण हो सकते हैं। क्योंकि काव्य एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य के वक्ष स्थल पर भावों की सुन्दर सरिता प्रवाहित कर देती है। कविता की मीठी नोक से तुब्ध होकर प्रमाद में पड़े हुए व्यक्ति बहुत शीघ्र सचेत हो जाते हैं, और इसी प्रकार उपन्यास के चरित्र चित्रण का भी उन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। पर यदि महाकाव्य के कवित्व और उपन्यास के चरित्र चित्रण दोनों के साथ नाट्य-कला के और २ नियमों को मिलाकर यदि एक नाटक का रूप दे दिया जाय, और रङ्गशाला में उसका अभिनय किया जाय तो उसका प्रभाव उपरोक्त प्रभाव की अपेक्षा कितना अधिक पड़ेगा, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

इसके अतिरिक्त और एक बात ऐसी है जो उपन्यास और महाकाव्य की अपेक्षा नाटक के महत्त्व को अधिक बढ़ा देती है। महाकाव्य और उपन्यास उन्हीं लोगों के कार्य्य में आ सकते हैं जो शिक्षित हैं, जो काव्य के मर्म को जानते हैं, एवं जो चरित्र

चित्रण की खूबियों को जानते हैं। ऐसे लोग समाज में बहुत कम पाये जाते हैं, जनता का बहुतसा बहादुर भाग प्रायः अशिक्षित रहता है, उनके लिये ये दोनों अङ्ग किसी काम के नहीं। पर नाटक ऐसी वस्तु है जो प्रायः अधिकांश जनता के कार्य्य में आती है। यदि नाटक सरल ढङ्ग से लिखा गया हो तो उसके अभिनय को प्रायः सभी लोग समझ सकते हैं। यदि वह ऊँचे ढंग का भी हुआ तो भी उसके अभिनय को समझने वालों की संख्या उपन्यास और महाकाव्य समझने वालों से कुछ अधिक ही रहती है। क्योंकि, नाटक का आधे से अधिक भाग तो ऐसा होता है जो हाव, भाव के द्वारा अभिनीत होता है। इसके अतिरिक्त साहित्य की भी बहुत सी कठिनाइयां अभिनय के द्वारा समझा दी जाती हैं। इस प्रकार कठिन से कठिन नाटक भी सरल से सरल बनाया जा सकता है।

नाटक की उपयोगिता का पूरा वर्णन करना इस छोटे से अध्याय में असम्भव है। कई गुलाम जातियां देशभक्ति और जातीयता के नाटकों के प्रभाव से आज़ाद हो गई हैं। जिस जर्मन जाति ने पांच साल तक संसार की इतनी बलशाली शक्तियों का सामना किया, इसका एक कारण वहां का उन्नत नाटक साहित्य भी था। जिस समय युद्ध होने वाला था अथवा हो रहा था उस समय जर्मनी की रङ्ग शालाओं में अद्भुत उत्साहवर्द्धक नाटक खेले जा रहे थे। जिनके प्रभाव से कई अकर्मण्य युवक भी कार्य्य क्षेत्र में आ गये। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति के समय का नाटक-साहित्य भी बड़ा ही क्रान्तिकारी है। मतलब यह कि, क्या जातीय जीवन के निर्म्माण में, क्या समाजोत्थान में, और क्या स्वाधीनता प्राप्ति में, नाटक बहुत सहायक होते हैं?

अतएव सिद्ध हुआ कि क्या रचना शैली की दृष्टि से और क्या उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य में नाटक का स्थान सर्वोच्च है ?

दूसरा अध्याय ।

नाटक की उत्पत्ति और विकाश ।

मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है । उसके स्वभाव में दूसरों का अनुकरण करने का गुण प्राकृतिक रूप से विद्यमान रहता है । बच्चा जब से उत्पन्न होता है तभी से उसके स्वभाव में यह बात पाई जाती है कि वह अपने घर के अन्य लोगों का अनुकरण करने की चेष्टा करता है । दूसरे लोगों को खाते देख कर वह भी मुँह हिलाता है । और जब वह धीरे धीरे खाना सीख जाता है तो उसे बड़ा आनन्द होता है । इसी प्रकार यदि किसी शहर का सभ्य निवासी किसी ग्राम में जाता है, तो ग्राम के लोग उसकी नकल करने में अपना गौरव समझते हैं, पहले वे उसकी बोल चाल की नकल करते हैं, उसके पश्चात् उसकी वेष भूषा की नकल करते हैं ।

इसके अतिरिक्त मनुष्य में यह भी, एक स्वाभाविक गुण पाया जाता है कि, जहां उसे कोई नई बात मालूम हुई कि, वह फौरन उसे दूसरों पर प्रकट करना चाहता है । किसी भी अच्छे भाव को अन्तःकरण में छिपा रखना उसके लिये कठिन हो जाता है । अपने मन की बात को दूसरों पर प्रकट करने के मुख्य साधन दो हैं, पहली "वाणी," और दूसरा "इशारा" इन्हीं दो साधनों के द्वारा वह अपने भावों को समाज में प्रकट करता है ।

मनुष्य की इन्हीं दो प्रवृत्तियों से नाटक की उत्पत्ति हुई है। यद्यपि इतनी अनुकरण शीलता से ही नाटक का आविर्भाव नहीं हो जाता। पर ज्योंही यह प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण कर लेती है (अर्थात् इसमें हाव भाव, संगीत, नृत्य आदि का समावेश होकर वेशभूषा की नकल करके मनुष्य दूसरे का स्थानापन्न बनने लग जाता है) त्योंहो मानों नाट्य-मन्दिर पर चढ़ने की प्रथम सीढ़ी का निर्माण कर देती है। बस, यहीं से नाटक की उत्पत्ति हो जाती है।

यद्यपि इस अनुकरण शील प्रवृत्ति का अस्तित्व तमाम मनुष्य जाति में न्यूनाधिक रूप से विद्यमान रहता है पर जहां तक उस पर साहित्य का बन्धन नहीं पड़ जाता वहां तक वह नाटक साहित्य नहीं कहा जा सकता। उन असभ्य जातियों में जिन्होंने इस प्रवृत्तियों पर साहित्य का अंकुश नहीं रक्खा है; नाटक का प्रचार होने पर भी नाटक साहित्य का अभाव है। नाटक वास्तव में उसी समय से साहित्य के अन्तर्गत माना जा सकता है जब उसमें अनुकरण के साथ कथनोपकथन अथवा वार्त्तालाप भी हो। इसके पश्चात् संगीत, नृत्य और वेश परिवर्त्तन का नम्बर आता है। नाटकोत्पत्ति की मूल भित्ती ही संगीत और नृत्य पर स्थिति है।

नाटकोत्पत्ति की इस छोटी सी विवेचना के पश्चात् हमें इस बात पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि, संसार की कौनसी जाति ने उपरोक्त प्रवृत्ति पर सब से पहले साहित्य का अङ्कुश देकर नाटक-साहित्य का विकास किया।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि, नाटक की उत्पत्ति से भी पूर्व संसार में संगीत और गीति काव्य की उत्पत्ति हुई है।

नाटक की भी मूल भूत वस्तुएँ ये दोनों ही हैं। इसलिये नाटक की उत्पत्ति का निर्णय करने के पूर्व इनकी उत्पत्ति का निर्णय लेना अनुचित न होगा।

(१) इस बात को संसार के सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि, जगत् का सब से प्राचीन साहित्य वेद है और उन वेदों में भी ऋग्वेद का आसन सब से पहला है। इस वेद के अन्तर्गत जो प्रार्थना मंत्र आए हैं साहित्य की दृष्टि से उनकी गणना गीति काव्य में की जा सकती है। इनके अतिरिक्त उसमें सरमा और पाणिन, पुरूरवा और उर्वशी आदि के गीतों में कुछ वार्त्तालाप का आभास भी पाया जाता है। इस प्रकार नाटक के प्रायः सभी आदि कारण ऋग्वेद में विद्यमान हैं। उपरोक्त प्रमाणों से यदि हम यह कल्पना करें तो अनुचित न होगा कि, नाटक साहित्य की उत्पत्ति सब से प्रथम भारतवर्ष में हुई। संसार के बहुत से प्रतिष्ठित विद्वानों ने भी यही निष्कर्ष निकाला है। मैक्समूलर, मैकडानल, पीशल, लेवी, कीथ, आदि सभी विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि, संसार में सब से पहले नाटकों का आरंभ भारतवर्ष में ही हुआ। लेकिन कुछ लोग इसका विरोध भी करते हैं। उन में मुख्यतः 'रिजवे" का नाम लिया जा सकता है। उनका कथन है कि, नृत्य, गीत, संवाद, आदि के रहते हुए भी जब तक किसी के कृत्यों का अभिनय न किया जाय, वहां तक यथार्थ नाटक की सृष्टि नहीं हो सकती। उन्होंने भरसक इस बात को सिद्ध करने की कोशिश की है कि, भारतीय नाटकों की सृष्टि बहुत पीछे हुई है। पर फिर भी दबे छुपे उन्होंने इस बात को स्वीकार कर ही ली है कि, पाणिनी और पातञ्जलि के समय में भारतीय नाटकों का बहुत कुछ विकास हो चुका था।

यदि कुछ समय के लिये हम इस बात को ही ठीक मान लें, तो भी हमारी नाट्य-कला बहुत प्राचीन ठहरेगी। क्योंकि, जब ऐसी गहन कला का पाणिनी और पातञ्जलि के समय में विकास हो चुका था तो निश्चय है कि, उसका बीजारोपण उनके बहुत पहले हो चुका होगा। क्योंकि, ऐसी गहनकला का विकास होने के लिए भी बहुत समय की आवश्यकता है। इस प्रकार रिजवे के मत से भी हम देखें तो भी हमारी नाट्य-कला की उत्पत्ति का समय ऋग्वेद से कुछ ही समय पश्चात् का ठहरता है।

(२) इस प्रकार बहुत समय तक भारतवर्ष में इस कला का विकास होता गया और उसके फल स्वरूप अन्त में भरत मुनि का लोक प्रसिद्ध नाट्य-शास्त्र के अस्तित्त्व में आया। भरत मुनि के काल में यहां की नाट्य-कला का बहुत विकास हो गया था। उनके नाट्य-शास्त्र में नाटक और रङ्ग-शाला सम्बन्धी छोटी से छोटी बातों का विवेचन किया गया है। यह नाट्य-शास्त्र इतना परिमार्जित ढङ्ग से लिखा गया है कि, कालिदास के समान महाकवि ने उसकी प्रशंसा की है और भरत मुनि को नाट्य-शास्त्र का आचार्य माना है। अब यदि हम भरत मुनि के समय का ही विचार करें तो वह भी ईसा से तीन या चार शताब्दी पहले का ठहरता है। उस समय में हमारी नाट्य-कला का इतना ऊँचा विकास हो चुका था, अब उस विकास के होने में कम से कम जितना समय लग सकता है उतना भी यदि उसमें जोड़ दें तो भी हमारी नाट्य-कला सब से प्राचीन ठहरने में समर्थ होगी। इससे अधिक और प्रमाण क्या हो सकता है। अतएव यह निश्चय हुआ कि, नाट्य-कला का जनक भी संसार की सब कलाओं का जनक भारतवर्ष ही है।

अस्तु! भरत मुनि के पश्चात् यहां की नाट्य-कला ने क्रमशः और भी उन्नति करना आरम्भ की। और अन्त में कविकुल गुरु कालिदास ने प्रगट होकर भारतीय नाटक साहित्य के इतिहास में अद्भुत युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके अभिज्ञान शाकुन्तल को पढ़कर आज भी सारा संसार मुग्ध विस्मय के साथ भारतवर्ष की ओर देखता है। इस उत्कृष्ट नाटक को पढ़ कर जर्मन कवि "गेटे" आनन्द विह्वल होकर नाचने लग जाते हैं और आनन्द में पागल होकर, आँखों में आँसू भरकर कह उठते हैं:—

"Wouldst thou see springs blossoms and the fruits of its decline;
Wouldst thou see by what the souls enraptured, feasted, fed;
Wouldst thou have this earth and heaven in one sole name combine;
I name thee oh! Sakuntala and all atonce in side"

कालिदास ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से यहां के नाट्य-साहित्य को इतना उठा दिया कि, वहां से अधिक ऊपर उठने का साहस उसने आजतक नहीं किया। भारतीय नाट्य-शास्त्र ने ही क्यों संसार के नाट्य-कला के इतिहास में भी शेक्सपीयर के सिवाय और कोई ऐसी प्रतिभा नज़र नहीं आती जो कालिदास का मुक़ाबिला कर सके।

इनके पश्चात् भारतीय नाट्य-कला के इतिहास में मृच्छकटिक के रचयिता महाकवि सम्राट श्रीहर्ष का नाम आता है। इनके रचे हुए नाटकों में नागानन्द नाटक और

रत्नावलि नाटिका प्रसिद्ध हैं। इनके पश्चात् महाकवि भवभूति का नाम आता है। ये भी भारतीय नाट्य-कला के इतिहास में कालिदास ही की टक्कर के हुए हैं। यद्यपि नाटकत्व की दृष्टि से ये कालिदास को नहीं पहुँच सकते। तथापि कवित्त्व की दृष्टि से ये कालिदास से भी बढ़ चढ़ कर हैं। इनकी रचनाओं में उत्तर रामचरित्र और मालती माधव प्रसिद्ध हैं। इनके बाद जो नाटककार हुए उनमें "मुद्राराक्षस" के रचयिता विशाखदत्त, "वेणीसंहार" के रचयिता भट्टनारायण "कर्पूरमंजरी" के रचयिता राजशेखर "प्रबोध चन्द्रोदय" के रचयिता कृष्णमित्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। "धनंजय" नामक एक विद्वान् ने दशवीं शताब्दी में "दशरूपक" नामक नाट्य-कला का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ भी लिखा।

उपरोक्त समय-अर्थात् ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से भारत की नाट्य-कला पतन के अन्धे गड्ढे में पतित हो गई। और चौदहवीं शताब्दी के पश्चात् तो मानों उसका निर्वाण ही हो गया। पर सौभाग्य से इधर करीब चालीस, पचास वर्षों से लोगों का ध्यान पुनः इधर को आकर्षित होने लगा। बंगला, मराठी, गुजराती और कुछ कुछ हिन्दी में भी इसका सूत्रपात हुआ है। विशेष कर बंगला में तो इसका अच्छा विकास हुआ है। और उस विकास के फल स्वरूप हमें "द्विजेन्द्रलालराय" के समान स्वर्गीय प्रतिभाएँ देखने को मिलती हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो आधुनिक नाट्य-कला के इतिहास में द्विजेन्द्रलालराय का आसन बहुत ऊँचा है। इनकी रचनाओं में कवित्त्व की कमनीयता, चरित्र चित्रण की अद्भुत क्षमता, और मनुष्य के मानसिक विकारों के स्वाभाविक दृश्य देखने को मिलते हैं।

नाटक का विकास ।

यद्यपि नाटक की सृष्टि संगति और नृत्य से हुई है, तथापि इसके विकास के मूल कारण महाकाव्य और गीतिकाव्य हैं। मनुष्य जाति की जब प्रारम्भिक अवस्था थी उस समय लोग प्रकृति के रहस्यों से अनभिज्ञ होने के कारण ऋतु परिवर्तन के दृश्यों को देखकर बड़े ही भयभीत हुआ करते थे। भयङ्कर मूसलधार वृष्टि को अथवा कड़ाके से पड़ती हुई सर्दी को देखकर व बहुत व्याकुल हो उठते थे। और उसकी शान्ति के निमित्त देवताओं से प्रार्थना करते थे। और ऋतु समाप्ति के उपलक्ष्य में बड़े २ उत्सव किया करते थे। बस, इन्हीं प्रार्थनाओं से गीति काव्यों का उद्भव हुआ, जिसने आगे चलकर नाटक की सृष्टि और उसका विकास किया। लेकिन जब बहुत दिनों तक आराधना करने पर भी वे लोग प्रकृति के इन नियमों से परिवर्तन न कर सके, तब उन्होंने समझ लिया कि, ये बातें बिलकुल नैसर्गिक हैं, इन में परिवर्तन करने की चेष्टा ही व्यर्थ है, यह बात समझते ही उन्होंने इस प्रकार के गीतों और उत्सवों को बन्द कर दिया। और उनके स्थान पर सन्तानों की स्वस्थता एव धनधान्य की वृद्धि के उद्देश्य से अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सव करने लगे। इन उत्सवों में भी नृत्य और गीत की ही प्रधानता होती थी। यूनान के एल्यूसिस नामक स्थान में सायनतुला के समय एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ करता था। उसमें भी धान्य की देवी डेमिटर" की पूजा होती थी। उस अवसर पर थोड़ासा धार्मिक अभिनय भी हुआ करता था। चीन के मन्दिरों में भी इसी प्रकार फ़सल कट जाने पर धार्मिक उत्सव हुआ करता था। उस उत्सव में मन्दिर के देवताओं के जीवन

की घटनाओं का अभिनय भी हुआ करता था। हमारे भारतवर्ष में भी सम्भवतः होली के त्योहार की सृष्टि इसीलिये हुई होगी। क्योंकि उस समय गेहूं वगैरह की फ़सल रहती है। होली के अवसर पर जो तरह २ के वेष बनाए जाते हैं, हमारी समझ में वे ही नाटक के पूर्व रूप हैं

आगे चलकर जैसे २ सभ्यता का विकास होता गया त्यों २ इन गीतों और उत्सवों में भी परिवर्तन होता रहा। कुछ समय पश्चात् देवी देवताओं के पूजन के साथ २ बड़े २ ऐतिहासिक पुरुषों का भी पूजन होने लगा। जब नई फ़सल तैय्यार होती तो उसका भोग लगाया जाता था। उनके पूजन के साथ साथ लोग उनके जीवन की घटनाओं का अभिनय भी किया करते थे। संसार की प्रायः सभी जातियों में इस प्रकार के ऐतिहासिक पुरुषों की पूजा प्रचलित है।

संगीत के पश्चात् नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण "नृत्य" समझा जाता है। नाटक शब्द की उत्पत्ति ही नट् धातु से हुई है। जिसका अर्थ "नृत्य" ही है। नृत्य करने की प्रथा दुनिया में बहुत प्राचीन काल से चली आई है। किसी भी खुशी के मौक़ेपर अथवा विजय के उपलक्ष्य में प्राचीन काल में जो आनन्द प्रकट किया जाता था वह सब नृत्य के द्वारा प्रकट किया जाता था। बरमा, चीन, और जर्मन आदि देशों में जब कोई वीर युद्ध में मर जाता था तो उसके शव के आगे वहां नृत्य होता था, उसके साथ ही साथ उस वीर-पुरुष का अभिनय भी किया जाता था। इन देशों के नाटकों की उत्पत्ति का मूल कारण यही नृत्य है। दक्षिण अमेरिका के पेरू, बोलीबिया, ब्रेजल, आदि देशों में अब तक ऐसे नृत्य होते हैं। पश्चिमी आफ्रिका के कांगो आदि

कुछ प्रदेशों की जङ्गली जातियों में तो इस प्रकार के नृत्य और अभिनय का बहुत ही अधिक प्रचार है। कम्बोड़िया में एक राजकीय रङ्गशाला भी है। जिसे "रंग-रम" कहते हैं। इस शब्द का मतलब ही "नृत्यशाला" का सूचक है। इन सब बातों से सूचित होता है कि, नाटक की उत्पत्ति के मूल कारण संगीत और नृत्य हैं।

यूनानी नाटक।

संसार के उन देशों में जो अपनी प्राचीन सभ्यता के लिये छाती ठोक कर अभिमान कर सकते हैं। भारत, यूनान, रोम, और इजिप्ट का नाम आ सकता है। भारत के पश्चात् दुनिया में यदि किसी देश ने अपनी सभ्यता का पूर्ण विकास किया है तो वह यूनान है। रोम और इजिप्ट का नम्बर उसके पश्चात् आता है। अब हम देखना यह है कि, नाट्य-कला के विषय में यूनान ने कहां तक उन्नति की, और किस प्रकार वहां पर इस कला का विकास हुआ।

प्राचीन काल में यूनान के डोरियन राज्यों में यह प्रथा प्रचलित थी कि, लोग देव-मन्दिरों में एकत्र होकर भोजन और नृत्य किया करते थे। उस नृत्य में सैनिकों के कृत्यों का साधारण अभिनय हुआ करता था। शनैः २ उन्नति करते करते उनमें यह विशेषता हुई कि, वहां के कवि भी भारतीय सूत्रधारों की तरह अपनी २ मण्डलियां संगठित करने लगे। उन मंडलियों में क्रमशः एक नये नृत्य की सृष्टि हुई। जिसे हम "अजानृत्य" (बकरे के रूप में नृत्य करना) के नाम से कह सकते हैं। इस नृत्य के जो अभिनेता होते थे उनके चेहरे, पैर और कान बकरे

की तरह बना दिये जाते थे। उन लोगों के गीतों को "ट्रेजिडी" (Tragedy) नाम से सम्बोधित करते थे। आगे चलकर इन्हीं गीतों से दुःखान्त नाटकों की सृष्टि हुई। यद्यपि ये अजागीत यूरोप के दुःखान्त नाटकों की उत्पत्ति के मूल कारण माने जाते हैं, तथापि यूनान में वास्तविक दुःखान्त नाटकों का आरम्भ महाकवि होमर के "इलियड" नामक महाकवि की रचना के पश्चात् हुआ। यह महाकाव्य वहां की जनता को इतना प्रिय मालूम हुआ कि, अजागीतों के साथ २ इसके अंश भी वहां गाये जाने लगे। इस प्रकार अजागीतों में इलियड काव्य के कथनोपकथन मिल जाने से यूनानी नाट्य कला का बीजारोपण हुआ।

बीजारोपण के पश्चात् धीरे २ नाटक का पौधा उत्पन्न हुआ, और वह क्रमशः अपना विकास करने लगा। नाना प्रकार के मर्मज्ञ मालियों ने उसकी कलम करना आरम्भ करके उसे सुन्दर रूप देना प्रारम्भ किया।

ईसा के करीब छः सौ वर्ष पूर्व यूनान में "थेस्पिस" नामक कवि ने सब से पहले नाटक लिखना प्रारम्भ किया। उसने सात दुःखान्त नाटक लिखे, पर उनमें से इस समय एक भी प्राप्य नहीं है। इसके पश्चात् भी और कई नाटक लिखे गये, पर वे सभी दुःखान्त होते थे। सिकन्दर के समय तक प्रायः वहां पर दुःखान्त नाटकों का ही प्रचार था। पर उसके पश्चात् वहां पर सुखान्त नाटकों की भी सृष्टि हुई। सुखान्त नाटकों का काल तीन विभागों में विभक्त किया जाता है। आदि, मध्य, और नवीन। आदि काल ईसा से ३९० वर्ष पहले तक माना जाता है। मध्य काल ३८० से ३२४ ईसा के पूर्व माना जाता है। नवीन युग में वहां की नाट्य-कला ने बहुत उन्नति की।

उस समय के नाटकों में शृंगार और प्रेम रस का भी प्रवेश हुआ। इस युग के प्रवर्त्तक पिलेमन और मेनेएडर माने जाते हैं।

इसके पश्चात् जब रोम वालों ने यूनानपर अधिकार कर लिया, तब वहां की और २ बातों के साथ नाट्य-कला भी रोम पहुँच गई। और रोम से यूरोप में पहुँचकर उसने अपना और भी अधिक विकास किया।

यूरोपीय नाटक।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि, यूनान की और २ सभ्यताओं के साथ २ उसकी नाट्य-कला को रोम वाले ले गये थे। रोम में सब से पहले ईसा से २४० वर्ष पूर्व एक नाटक खेला गया था। उसके पश्चात् जो नाटक बने वे सब यूनानी नवीन प्रथा के अनुकरण के फल थे। विशेषता उनमें यही थी कि, और २ भावों के सिवा उनमें राष्ट्रीयता के भावों का भी सचार होने लग गया था नाट्य-कला की दृष्टि से भी उनमें बहुत सुधार हुआ। उसी समय से वहां पर रङ्गशालाएँ भी बनाना शुरु हुई। सब से पहली रङ्गशाला वहां पर ईसा से ५५ वर्ष पहले बनी थी। उसमें १८००० दर्शकों के बैठने का स्थान था। इसके पश्चात् ईसा की चौथी शताब्दी तक वहां की नाट्य-कला उन्नति करती गई। पर उसके पश्चात् वहां पर ईसाईयों और पादरियों का ज़ोर बहुत बढ़ गया। ये लोग इस कला के बहुत विरुद्ध थे। इन्होंने इसका जोरों से विरोध किया जिससे वहां की नाट्य-कला का ह्रास होना आरम्भ हुआ।

यद्यपि धर्माचार्यों के विरोध के कारण ईसा की चौथी शताब्दी से यूरोप में नाट्य-कला का ह्रास आरम्भ हो गया था।

परंतु उनके गिरजों में जो प्रार्थना बोली जाती थीं उनमें नाटक के कई तत्त्व उस समय भी मौजूद थे। धीरे २ आगे चल कर यह प्रार्थना ही नाटक का रूप धारण करने लगी। और कई सौ वर्ष के पश्चात् इसी के सहारे धार्मिक नाटकों की रचना भी प्रारम्भ हुई। आगे चलकर इन नाटकों का और भी अधिक विकास हुआ। और जब धार्मिक नाटकों की तादाद बहुत ज्यादा बढ़ गई तो धीरे धीरे सामाजिक और नैतिक नाटकों का भी बनना प्रारम्भ हुआ। इधर वहांपर पादरियों का ज़ोर भी बहुत कम हो चला था। इस कारण वहां के नाटकों को अपना विकास करने का और भी अच्छा अवसर मिला। इस समय के नाटकों में इटली, और स्पेन वालों ने बहुत उन्नति की थी। इन देशों में अच्छे अच्छे नाटक लिखे जा रहे थे।

इंग्लैण्ड में भी पादरियों के कारण मध्य युगीन नाटकों का अन्त हो गया था। पर महारानी एलिज़ाबेथ के सिंहासनासीन होने के पश्चात् इस कला ने वहां पर अच्छी उन्नति की। क्योंकि, स्वयं एलिज़ाबेथ को नाटकों का बहुत शौक था। पहले पहले तो इटालियन नाटकों के अनुकरण पर वहां भी सुखान्त और दुखान्त नाटकों की रचना आरम्भ हुई। पर कुछ समय पश्चात् भारतवर्ष के कालिदास के समान ही वहां पर एक ऐसी प्रतिभा प्रगट हुई जिसने वहां के नाटक साहित्य में एक अद्भुत क्रान्ति उपस्थित कर दी। वह प्रतिभा "शेक्सपीयर" थी। उसने अपनी सुन्दर कलम के बल से वहां के नाटकों में एक नवीन युग का आरम्भ कर दिया। उसकी प्रतिभा का लोहा सारे संसार ने स्वीकार किया। आज भी शेक्सपीयर

का नाम कर्णगोचर होते ही एक इंग्लैण्ड निवासी का सिर गौरव से ऊँचा हो जाता है।

जिसप्रकार भारतवर्ष में कालिदास के पश्चात् कोई ऐसी प्रतिभा प्रकट नहीं हुई, जो कालिदास का मुकाबिला कर सके, उसीप्रकार यूरोप ने भी अभीतक दूसरा शेक्सपीयर प्रकट करने का गौरव प्राप्त नहीं किया। फिर भी-बहुत कुछ बाधा विघ्नों को सहते हुए भी-इंग्लेण्ड की नाट्य-कला ने अपनी अपूर्व उन्नति की। वर्तमान में तो वहां का साहित्य इतना उन्नति शील हो चुका है कि, संसार का कोई भी नाट्य-साहित्य उसका मुकाबिला नहीं कर सकता।

वास्तव में देखा जाय तो नाट्य-कला का वास्तविक विकास भारतवर्ष में कालिदास के समय में, और यूरोप में शेक्सपीयर के काल में हुआ। ये दोनों ही कवि संसार में अपनी हानि नहीं रखते। पर यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि, इन दोनों में बड़ा कवि कौन है। इस में सन्देह नहीं कि, वर्तमान काल में शेक्सपीयर का पक्ष प्रबल रहेगा। फ़िर भी हम यदि हो सका तो किसी अगले अध्याय में यह बतलाने की कोशिस करेंगे कि, कालिदास की प्रतिभा भी अद्भुत है, अपूर्व है, अवर्णनीय है। वह भी किसी की सानी नहीं रखती।

चीनी नाटक।

यों तो भारतवर्ष की ही भांति चीन की नाट्य-कला का इतिहास भी बहुत प्राचीन है। पर ईसा की छटवीं शताब्दी से उसका व्यवस्थित रूप से प्रचार हुआ। कुछ चीनी विद्वानों का मत तो यह है कि, सब से पहले सन् ५८० में सम्राट "वान"

ने वहां पर पहले पहल नाटक का प्रचार किया। पर कुछ लोग इसके विरोधी हैं। उनका कथन है कि, सम्राट "हुएनसंग" ने सब से पहले सन् ७२० में नाटक का अविष्कार किया। जो हो, वहां के नाटकों का काल आजकल तीन भागों में विभक्त किया जाता है। पहला काल सन् ७२० से ९६० तक का गिना जाता है, उस समय वहां पर "तांग" राज वंश का शासन था। दूसरा काल सन् ९६० से ११२६ तक का माना जाता है। इस समय में वहां पर "सुँग" राजवंशी राजा राज्य करते थे। और तीसरा काल ११२६ से १३६७ तक का माना जाता है। इस समय में वहां पर "चिन" और "युआन" राजवंशी राजाओं का राज्य था, इन में से तीसरे काल में वहां के नाटकों ने बहुत उन्नति की। उन दिनों में वहां पर जैसे नाटक बने वैसे आजतक नहीं बने। उस काल में वहां पर करीब पचासी नाटककार हुए. जिन में चार स्त्रियां भी थीं। उस समय के लिखे हुए करीब ५५० नाटक इस समय तक मिले हैं। ये सब भिन्न २ विषयों पर लिखे गये हैं। क्या धार्मिक, क्या सामाजिक, क्या पौराणिक, और क्या ऐतिहासिक सभी विषयों पर वहां उस समय नाटक लिखे जाते थे। एवं बड़े से लेकर छोटे आदमियों तक के चरित्र वहां की रङ्गशालाओं में अभिनीत होते थे। उस काल के नाटककार नाटक लिखते समय लोक-शिक्षा और चरित्र-सुधार का ध्यान हमेशा रखते थे। यही कारण है कि, उस काल के नाटकों में अश्लीलता और भण्डता की एक छींट भी नहीं पाई जाती। फिर भी उनमें हास्य रस की कमी नहीं होती थी। वहां की रङ्गशालाएं इतनी साधारण होती थीं कि, आवश्यकता होने पर किसी छोटे गांव में भी फौरन बना ली जाती थी। यही कारण था कि, चीन में छोटे छोटे

गांवों तक में नाटकों का प्रचार हो गया था। पहले २ कुछ समय तक वहां की रङ्गशालाओं में स्त्रियां भी अभिनय किया करती थीं, पर एकबार वहां के तत्कालीन सम्राट "खिन-लांग" ने एक नटी की खूबसूरती पर रीझकर उसे अपनी उपपत्नी बना लिया, तब से वहां की रङ्गशालाओं में स्त्रियों का अभिनय रुक गया।

मिश्र के नाटक।

जिस प्रकार रोमन लोगों ने यूनान से नाट्य-कला सीखी उसी प्रकार यूनान वालों ने मिश्र देश से इस कला को सीखा था। मिश्र की नाट्य-कला यूनान से अधिक प्राचीन है। वहां पर बहुत समय पहले से नाटक खेले जाते थे। वह समय इतना प्राचीन है कि, भारतीय नाट्य-कला की तरह वहां की नाट्य-कला तक भी इतिहास की बराबर पहुँच नहीं है। पर दुःख इतना ही है कि. इस समय मिश्र में उस देश का एक भी निजी नाटक नहीं पाया जाता। जो कुछ भी मिलते हैं दूसरी भाषाओं से अनुवादित किये गये हैं। जिस देश से यूनान के समान सभ्य देश ने नाट्य-कला सीखी, उस देश में अब एक भी उसका निजी नाटक नहीं, कितना अफसोस है!

तीसरा अध्याय।

नाटक-तत्त्व।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने नाटक के मुख्य तत्त्व तीन माने हैं। (१) वस्तु (२) नायक (३) रस। पर आधुनिक विद्वान इसके पांच तत्त्व मानते हैं अर्थात् (१) वस्तु (२) नायक

(३) नाटकत्त्व (४) कवित्व और (५) भाषा, छन्द, रस, अलङ्कार आदि। यद्यपि नायक तत्त्व में नाटकत्त्व का और "रस" तत्त्व में ही कवित्व, भाषा, छन्द आदि का समावेश हो जाता है। तथापि सुगमता और स्पष्टता के लिहाज़ से इन तत्त्वों को अलग २ कर देना कोई अनुचित नहीं जान पड़ता कुछ लेखक कथनोपकथन, शैली, उद्देश्य, देशकाल, आदि कई भिन्न तत्त्वों की योजना करते हैं,। पर यदि वे सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि, कथनोपकथन, नायक तत्त्व में एवं शैली, देशकाल आदि सभी बातें नाटकत्त्व में, एवं शैली, देशकाल आदि सभी बातें नाटकत्त्व में आजाती हैं। इसके अलग २ भेद करने की कोई खास जरूरत नहीं, और यों तो जितने भेद हम बढ़ाना चाहें उतने ही बढ़ सकते हैं। इसलिये जितना ही यह विषय संक्षिप्त में समझाया जा सके उतनाही अच्छा है। हां, इतना संक्षिप्त भी न हो जाना चाहिए; जिससे उसकी स्पष्टता ही मारी जाय। इसी लक्ष्य को सामने रखकर हमने दो तत्त्व बढ़ा दिये हैं अब हम आगे इन सब भेदों पर एक २ अध्याय में अलग अलग विचार करेंगे।

चौथा अध्याय

कथा वस्तु PLOT।

नाटक रचना करते समय सब से पहले हमें कथावस्तु (कहानी) की योजना करनी पड़ती है। सब से पहले नाटककार के मस्तिष्क में यही विचार उत्पन्न होता है कि, घटनाओं का संगठन किस प्रकार किया जाय। अतएव इस अध्याय में हम इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

हम पहले अध्याय में नाटक और उपन्यास की तुलना करते हुए यह बात कह आए हैं कि, एक उपन्यासकार अपनी कहानी का बिस्तार मनमाना बढ़ाने को स्वतन्त्र है, पर नाटककार को वह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। वह अपने कथा भाग को उतना ही बढ़ा सकता है जितने का अभिनय पांच या छः घण्टे में सम्पूर्ण हो जाय। और जिसे दर्शक लोग बिना उकताए एक बैठक पर देख सकें। इसीसे उसका कथा भाग बहुत संक्षिप्त रखने की आवश्यकता होती है। कुशल नाटककार को केवल वे ही घटनाएं दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए जो बहुत ही आवश्यकीय और महत्त्वपूर्ण हों और साथ ही साथ विचित्रता से भरी हुई और रुचि-वर्द्धक भी हों। उनके सिवा जो साधारण घटनाएं होती हों उनकी वह सूचना मात्र दे दे। दूसरे शब्दों में हम इसी बात को सिद्धान्त रूप में यों कह सकते हैं कि, नाटक का कथा भाग यथा साध्य संक्षिप्त रखना चाहिए।

इसके पश्चात् अब हमें यह देखना चाहिए कि, नाटक का कथा भाग किस प्रकार सजाया जाय। इस स्थान पर यदि हम चाहें तो नाटकों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहले सामाजिक और दूसरे ऐतिहासिक।

सामाजिक नाटकों का कथा भाग या तो लेखक को बिलकुल कल्पना से बनाना पड़ता है, अथवा समाज में घटी हुई किसी घटना के आधार पर उसे उसकी रचना करना पड़ती है। पर अधिकतर ऐसे नाटकों में कल्पना का आधार ही अधिक रहता है। समाज की जैसी हालत है उसी प्रकार के पात्रों की कल्पना उसे करना पड़ती है। उन्हीं पात्रों के द्वारा प्रारम्भ में वह समाज की वास्तविक हालत को बतलाता है; और क्रमशः पात्रों का

विकास करते करते या तो वह उन्हें उस ऊँची स्थिति में पहुँचा देता है, जिस स्थिति में वह भविष्य में समाज को देखा चाहता है, अथवा क्रमशः पतन करते २ अथवा उसी प्रकार बढ़ाते हुए वह उन पात्रों का उस दुरावस्था में डाल देता है, जिस दुरावस्था में उसकी दृष्टि के अनुसार-भविष्य में उसकी समाज पड़ने वाली है। पहली श्रेणी के नाटक सुखान्त (Comedy) होंगे, और दूसरी श्रेणी के दुःखान्त (Tregedy)। इन दोनों में कौन से नाटक अच्छे होते हैं, इसका विचार हम एक स्वतंत्र अध्याय में करेंगे। द्विजेन्द्रलालराय का "बंगनारी" नाम क नाटक पहली श्रेणी का और "परपारे" दूसरी श्रेणी का है।

ऐतिहासिक नाटकों में लेखक का आधार इतिहास रहता है। इतिहास के अन्तर्गत जो घटनाएँ हुई हैं उन्हीं का चरित्र चित्रण करना लेखक का काम रहता है। पर इसमें भी लेखक की कल्पना को बहुत कुछ काम करना पड़ता है। क्योंकि नाटक इतिहास नहीं है। इतिहास के अतीत चित्र में वर्त्तमान का रङ्ग भर कर नाटककार को उसे एक नया रूप देना पड़ता है।

इसी प्रकार नाटककार इतिहास में भी मनमानी परिवर्त्तन करने को स्वतंत्र है। ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र को यदि वह कहीं अपने उद्देश्य के प्रतिकूल समझता है तो फौरन उसे बदल कर अपने उद्देश्य के अनुकूल बना लेता है। महाभारत के दुष्यन्त एक लम्पट राजा थे, तपोवन में अतिथि के रूप में जाकर भी वे ऋषि-कन्या-शकुन्तला के रूप पर मोहित हो गये, और उसी समय उन्होंने गान्धर्व विधि से उसका पाणिग्रहण भी कर लिया। फिर जब वही शकुन्तला

उनके पास राजसभा में भेजी गई तो लोकनिन्दा के डर से उन्होंने झूठ मूठ ही न पहचानने का बहाना कर, उसका प्रत्याख्यान कर दिया। और अन्त में आकाश-वाणी होने पर उन्होंने उसे पुनः ग्रहण कर लिया। महाकवि कालिदास ने देखा कि, इस प्रकार के दुष्यन्त से हमारा कार्य्य न चलेगा। क्योंकि, इनमें तो एक भी उल्लेख-योग्य गुण न था और उन्हें तो एक उत्कृष्ट चरित्र की आवश्यकता थी। यह देखते ही झट उन्होंने महाभारत वर्णित दुष्यन्त में अपनी कल्पना के ओर से रङ्ग देना प्रारम्भ किया। और अभिज्ञान, अभिशाप, मछली का अंगूठी निगल जाना आदि कई कल्पनाओं को जन्म देकर उन्हें और का और बना दिया। सचमुच कालिदास के दुष्यन्त एक कट्टर धर्म भीरू और चरित्रवान् राजा है।

इसी प्रकार भवभूति ने भी उत्तर रामचरित्र में रामचन्द्र के चरित्र को वाल्मीकी के रामचन्द्र चरित्र से और का और बना दिया है। वाल्मीकी के राम ने केवल वंश-मर्य्याद की रक्षा के लिए सीता को वन में भेजा था, लेकिन जब भवभूति ने देखा कि, इससे तो रामचन्द्र के चरित्र में कुछ मलीनता आ जाती है, क्योंकि, राजा का प्रधान कर्त्तव्य न्याय विचार है, न्यायविचार की वेदी पर वंश-मर्य्यादा और राज्य को भी बलिदान कर देना राजा का कर्त्तव्य है। तत्काल उन्हाने इस कमजोरी को निकाल डाला और वंश-मर्य्यादा की बात को एकदम भुला कर उन्होंने प्रजा रञ्जन के निमित्त जानकी का निर्वासन करवा देने का निश्चय किया, और प्रारम्भ में ही अष्टावक्र मुनि के सामने रामचन्द्र से प्रतिज्ञा करवाई कि—

स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकी मपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।

इस प्रकार परिवर्त्तन करके उन्होंने रामचन्द्र के चरित्र को बहुत कुछ उज्जवल कर दिया। इसी प्रकार और भी कई स्थानों पर जहां जहां उन्होंने ज़रा भी दुर्बलता देखी, अपनी इच्छानुसार परिवर्त्तन कर दिया है।

पर इस से यह नहीं कहा जा सकता कि उपरोक्त नाटककारों ने इस प्रकार परिवर्त्तन करके कोई अनाधिकार चेष्टा की है। हरएक नाटककार को इस प्रकार परिवर्त्तन करने का पूर्ण अधिकार है, पर उस में इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि, इतिहास कार्य चरित्र से एकदम विपरीतपन न आ जाय। जैसे यदि कोई लेखक जयचन्द्र के समान देशद्रोही राजा को एक परम देशभक्त के रूप में खड़ा करना चाहे तो अवश्य वह अनाधिकार चेष्टा होगी, अथवा यदि लक्ष्मणसेन (बङ्गाल का अन्तिम राजा जो वख्तियार खिलजी के डर से खिड़की कूद कर भागा था। और जिसके राज्य को बख्तियार खिलजी ने केवल सत्रह सवारों के साथ जीता था। के समान कायर राजा को एक बहादुर के रूप में खड़ा करना चाहे तो वह भी हास्यास्पद ही होगा। क्योंकि, यद्यपि इतिहास का बन्धन सभी स्थानों पर नाटककार को कायल नहीं कर सकता तथापि प्रधान २ स्थानों पर तो उसका निमंत्रण अनिवार्य्य रूप से रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के लिखने में नाटककारों को एक सुविधा भी रहती है; और एक असुविधा भी। सुविधा तो यह कि, उन्हें एक बनाबनाया प्लाट मिल जाता है, और असुविधा यह कि, उनकी लेखनी पर एक अंकुश बना रहता है।

ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक पात्रों के सिवाय, काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि की जाती है। बिना काल्पनिक पात्रों के काम नहीं चल सकता। क्योंकि, किसी भी चरित्र को उज्वल या मलीन दिखाने के लिये उसके परिपार्श्व मलिन और उज्ज्वल चित्र का रहना जरूरी है। कहीं २ तो ऐसे चित्र इतिहासों में मिल जाते हैं, और कहीं २ कल्पनाओं से बनाना पड़ते हैं। जैसेपृथ्वीराज की धर्मप्रियता और देशभक्ति को और भी उज्ज्वल बनाने के लिए जयचन्द का मलीन चित्र इतिहास में प्राप्य है। पर दुर्गादास भीमसिंह, प्रतापसिंह, कासिम आदि के चरित्रों को अधिक उज्ज्वल बनाने के लिये द्विजेन्द्र को, श्यामसिंह जयसिंह, गजसिंह, काबलेस खां आदि के चरित्रों की सृष्टि करना पड़ी है। यद्यपि इन में से कुछ चरित्र इतिहास में मौजूद हैं, पर उस ढङ्ग से नहीं है जैसे द्विजेन्द्र बाबू ने इन्हें चित्रित किया है। अस्तु !

अब हम नाटक में घटनाक्रम को किस प्रकार जमाना चाहिए, इस विषय पर कुछ लिखकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

जिस प्रकार उपन्यासों में परिच्छेद, महाकाव्यों में सर्ग आदि विभाग होते हैं। उसी प्रकार नाटक में भी अङ्क होते हैं। अङ्क पूरे नाटक को कई भागों में विभक्त कर देते हैं। संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार तो नाटक में सात अङ्क होना चाहिये, पर आधुनिक रंगालयों की दृष्टि से अधिक से अधिक पांच और कम से कम तीन अंकों का नाटक में होना जरूरी है। इन विभागों के फिर उपविभाग होते हैं, जिन्हें हम "दृश्य" कह सकते हैं। और इन दृश्यों में भी दृश्यान्तर हुआ करते हैं। प्रत्येक

दृश्य के पश्चात् यवनि का पतन होता है, अर्थात् परदा गिरता है । और प्रत्येक अङ्क के पश्चात् प्रधान यवनिक पतन (Drop seen) होता है । हरएक अङ्क में कितने दृश्य रहना चाहिए इसका कोई नियम नहीं, पर संस्कृत नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से पहला अङ्क सब से बड़ा और क्रमशः छोटे होते २ अन्तिम अङ्क सब से छोटा होना चाहिए ।

नाटक के अन्दर इस बात पर प्रायः ध्यान रखना चाहिए कि, लगातार दृश्यों में एक ही प्रकार के रस का, अथवा एक ही पात्रका अभिनय न रहे। क्योंकि इससे पाठक अथवा दर्शक प्रायः उकता जाते हैं । यदि हरिश्चन्द्र नाटक में लगातार हरिश्चन्द्र ही रङ्गमँच पर आकर करुणा रस का स्रोत बहाते जांय, तो लोगों का अश्रुप्रवाह करते २ जी मिचला जाता है। इन्हीं रसों की मिचलाहट को मिटाने के लिए नाटक में हास्य रसकी योजना अनिवार्य कर दी गई है। दो दृश्यों का अभिनय हुए के पश्चात् कम से कम एक दृश्य ऐसा अवश्य आना चाहिए । जिससे पाठक अथवा दर्शक हंसते २ लोटपोट होने लग जांय, लेकिन इस प्रकार के हास्य रस के लिए किसी खासपात्र की अवतारणा करना ठीक नहीं । नाटक के दूसरे पात्रों के मुख से ही समय समय पर इसका अभिनय करवाना उत्तम कौशल का परिचायक है ।

प्लाट जमाने के लिए सबसे पहले तो हमें उसके कथा भाग को तैय्यार कर लेना चाहिए । यदि कथा भाग ऐतिहासिक है, तो उसमें कहां २ पर परिवर्त्तन करना है, कौनसे पात्र को किस ढङ्ग का बनाना है, आदि सब बातों को जमा लेना चाहिए । और यदि कथाभाग सामाजिक और काल्पनिक है। तो एक एक पात्र

का संक्षिप्त चरित्र नोट कर लेना चाहिए। उसके पश्चात् उस नाटक को अङ्कों में विभक्त करना चाहिए और अङ्कों को दृश्यों में। संक्षिप्त में एक क़ागज़ पर कानसे अङ्क में कितने दृश्य रहेंगे और प्रत्येक दृश्य में कौन कौनसा विषय रहेगा, सब लिख लेना चाहिए। उसके पश्चात् नाटक रचना प्रारम्भ करना चाहिये। जिससे फिर आगे जाकर कठिनाइयों का सामना करना न पड़े बिना ख़ाका जमाये नाटक लिखने से एक तो समय समय पर कल्पना न दौड़ने से हैरान होना पड़ता है। दूसरे नाटक का ढ़ाँचा असम्भव सा हो जाता है। इसलिये ख़ाटका जमा लेना आवश्यक है। हाँ, विचारों के परिवर्त्तन के अनुसार उसमें भी बाद को इच्छा हो तो परिवर्त्तन कर सकते हैं।

पांचवा अध्याय

पात्र (चरित्र-चित्रण)।

नाटक के अन्तर्गत कथा वस्तु (Plot) के संगठन पर जितना ध्यान देने की आवश्यकता है, उससे भी अधिक ध्यान उसमें चरित्र चित्रण पर देना आवश्यक है। यदि किसी नाटक में केवल घटनाएँ ही घटनाएँ हों एवं उपयुक्त चरित्र चित्रण का अभाव हो, तो वह कदापि उत्कृष्ट नाटक-साहित्य में नहीं रक्खा जा सकता। वास्तव में देखा जाय जाय तो चरित्र-चित्रण ही नाटक का सौन्दर्य्य है। शेक्सपीयर, कालिदास, अथवा द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का महत्त्व इसलिये नहीं है कि, उन में घटनाओं की माला, या कहानियों की बिचित्रता है, प्रत्युत उनका महत्त्व इसलिये है कि, उनमें चरित्र-चित्रण बहुत ही खूबी के

साथ किया गया है। उन लोगों ने प्रकृति के अन्तर्रहस्य का और सृष्टि सौन्दर्य्य के सूक्ष्म तत्व का अध्ययन करके अपने नाटकों में बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् के कपाटों को खोल दिया है। चञ्चलजगत् के अन्दर-हमारे जीवन में-नित्य प्रति होने वाली साधारण घटनाओं में जो कवित्व छुपा हुआ रहता है-और जिसको साधारण लोग नहीं समझ सकते-उसी के मर्म को समझ कर उन्होंने अपने नाटकों में बतलाया है एवं उन्होंने मनो-विज्ञान में सूक्ष्म सिद्धान्तों की आलोचना अपने नाटकों में की है, इसी से वे प्रशंसा के पात्र हैं।

जो नाटककार प्रकृति के मर्म की भीतरी तह पर पहुँचने की योग्यता नहीं रखता जो मनोविज्ञान के सूक्ष्म तत्वों की जान-कारी नहीं रखता एवं जो जगत् के रहस्य को न समझ सकने के कारण ऊपर ही ऊपर विचरण किया करता है, वह कभी उत्कृष्ट नाटककारों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता।

नाटककार होने के लिये यदि सब से पहले किसी बात की आवश्यकता है तो मनोविज्ञान के अध्ययन की। क्योंकि, नाटक में प्रधानता चरित्र चित्रण की रहती है, और चरित्र चित्रण का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत् से बहुत अधिक रहता है, अन्तर्जगत् का अध्ययन करने में हमें मनोविज्ञान से बहुत सहायता मिल सकती है।

एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कथन है कि "मनुष्य का अन्तर्हृदय एक प्रकार की रणभूमि है। उसकी प्रवृत्तियों में हमेशा किसी न किसी प्रकार का युद्ध चलता रहता है। फिर चाहे वह युद्ध वहिर्घटनाओं के साथ वहिर्घटनाओं का हो, अथवा अन्तर्घटनाओं के साथ अन्तर्घटनाओं का"। जब मनुष्य

हृदय की यह हालत है तो आवश्यक है कि, उत्कृष्ट नाटकों में भी इसी प्रकार का युद्ध दिखलाया जाय। क्योंकि, नाटक में मनुष्य हृदय का ही तो चरित्र चित्रण रहता है।

हम प्रायः संसार में देखा करते हैं कि, मनुष्य जीवन साम्य रूप से व्यतीत नहीं हुआ करता। सुख और दुःख के धक्कों से, सम्पत्ति और विपत्ति के संघर्षण से, एवं पाप और पुण्य के प्रतिघात से हमेशा उसका जीवन स्त्रोत बदलता रहता है। साधारण मनुष्यों में मनस्तत्व का यह सिद्धान्त पाया जाय, इस में तो कोई आश्चर्य नहीं, पर बड़े २ महापुरुषों के जीवन में भी घात प्रतिघात का यह सिद्धान्त अनवरत रूप से कार्य्य करता आया है। भगवान् बुद्ध देव के जीवन को ही देखिये प्रारम्भ में तो वे प्रेम और सौन्दर्य्य की प्रवृत्तियों में पड़ कर यशोधरा के साथ विवाह कर लेते हैं, उसके पश्चात् एकाएक कुछ बहिर्घट-नाओं के संघर्षण से उनकी प्रवृत्ति वैराग्य की ओर पलटा खाती है, और वे अपने पिता, पत्नी आदि सभी लोगों का त्याग करके जँगल में चले जाते हैं। वाल्मीकि का जीवन इससे भी अधिक आश्चर्य्य जनक है, शेखसादी का, ईसा का और सुकरात का जीवन भी ऐसे घात प्रतिघातों से युक्त है। प्रायः प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस प्रकार की घटना परम्पराएं देखी जाती हैं। इतिहास में भी इस प्रकार की घटनाएं पाई जाती हैं, पर अन्तर यह रहता है कि, नाटक में वे घटनाएं ज़रा ज़ोरदार रूप से विद्यमान रहती हैं।

प्रायः सभी नाटकों में यह बात देखी जाती है कि, उनके प्रधान नायक कई प्रकार की विपत्तियों को लांघ कर एक लक्ष्य की ओर जाने की चेष्टा करते हैं। उनमें से कुछ नाटकों के

नायक तो सब विपत्तियों और घटनाओं के साथ युद्ध करते २ अन्त में अपने निश्चित लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं, और कुछ लक्ष्य पर पहुंचने के पहले ही मर मिटते हैं अथवा निराश होकर वापस लौट जाते हैं। जिन नाटकों में पहली श्रेणी का चरित्र चित्रण होता है उन्हें सुखान्त (Comedy) कहते हैं। और जिनमें दूसरी प्रकार का चित्र रहता है उन्हें दुःखान्त (Tragedy) कहते हैं।

एक प्रसिद्ध लेखक के शब्दों में हम इसी बात को संक्षिप्त में यों कह सकते हैं कि-" सुख और दुःख की वाधा और शक्ति चरित्र और बहिर्घटना के संघर्षण से ही नाटक का जन्म है। उसमें युद्ध चाहिए फिर चाहे वह युद्ध बाहर की घटनाओं के साथ हो या मानसिक प्रवृत्तियों के साथ।

लेकिन जिस नाटक में मानसिक प्रवृत्तियों का युद्ध बतलाया जाता है वह बहुत ही उच्च श्रेणी का होता है। क्योंकि बहिर्जगत् की अपेक्षा मनुष्य के अन्तर्जगत् का अध्ययन करना अपेक्षाकृत कठिन कार्य्य है। बहिर्घटनाओं के साथ युद्ध दिखलाना भी बहुत कठिन है, मगर वह अपेक्षाकृत कुछ सरल है। वहिर्युद्ध वाले के उदाहरण में हम दुर्गादास का और अन्तर्युद्ध वाले नाटकों के उदाहरण में हम " नूरजहां " का नाम ले सकते हैं। गुलेनार की प्रणय भिक्षा के समय दुर्गादास के हृदय में जो युद्ध हुआ था वह युद्ध सौन्दर्य और कर्त्तव्य के, एवं विलास और सद्भावना के बीच में हुआ था, मगर नूरजहां का युद्ध और ही प्रकार का है वह युद्ध भक्ति और महत्वाकांक्षा में, प्रेम और लालसा में,

विश्वास और महती प्रवृत्तियों के बीच में हो रहा है। और नाटक के अन्त तक बराबर जारी रहता है। संसार के प्रायः सभी उत्तम नाटकों में यह युद्ध पाया जाता है। एक प्रकृति और दूसरी प्रकृति के संघर्षण की लहर उठाये के बिना या विपरीत प्रवृत्तियों की टक्कर से तूफान उठाये बिना उत्तम नाटकों की सृष्टि नहीं हो सकती। जिस नाटक में अन्तर्विरोध और मानसिक क्रान्ति के दृश्य नहीं होते, वह उत्कृष्ट नाटक नहीं कहा जा सकता।

उपरोक्त कथित विषय को और भी स्पष्ट करने के लिये हम पाठकों के आगे उदाहरणार्थ "नूरजहां,, का नाम रख सकते हैं। नूरजहां का जीवन उसके पति शेरखां के साथ एक शान्त गति से अग्रसर हो रहा था। लेकिन नाटक को प्रारम्भ करने के साथ ही परोक्ष रूप से हमें ऐसा मालूम होता है मानों वह अपने मनमें किसी प्रकार का दुःस्वप्न देख रही है, इसीलिये वह उस सुख को जो उस समय उसे प्राप्त है-बलपूर्वक पकड़ के रखना चाहती है। फिर भी हम लागों को प्रारम्भ में ही यह भाव नहीं हो पाता कि, "भविष्य में क्या होगा!" धीरे धीरे उसके जीवन सागर की बढ़ती हुई शान्त लहर से जहांगीर के हृदय सागर से उड़कर आती हुई लालसा की लहर टकराती है। उन दोनों लहरों में परस्पर एक भयङ्कर युद्ध ठन जाता है। एक ओर लालसा है दूसरी ओर कर्त्तव्य है-एक ओर काम वासना है, दूसरी ओर पति भक्ति है, एक ओर साम्राज्य की क्षमता है दूसरी ओर देव चरित्र शेरखां है। फिर भी वह युद्ध प्रायः अप्रत्यक्षसा ही रहता है। उसके पश्चात् उसके जीवन सागर में एक भयङ्कर धक्का और लगता है। जहांगीर के षड्यंत्र से एकाएक शेरखां

की मृत्यु हो जाती है। इस आकस्मिक घटना से उसका जीवन स्रोत एकदम पलट जाता है, और उसके साथ ही साथ उस अन्तर्द्वंद्व की गति भी बदल जाती है। अब एक ओर आत्म रक्षा का प्रबल ख्याल रहता है, दूसरी ओर भोग लालसा की छिपी हुई आग और गौरव कामना की हवा रहती है। एक ओर सत्प्रवृत्ति रहती है दूसरी ओर शैतान प्रवृत्ति। दोनों में भयङ्कर युद्ध ठन जाता है। चार वर्ष तक यह भयङ्कर युद्ध विकट रूप से उसके हृदय में होता रहता है। अन्त में राज्य का बेहद लोभ आत्म सम्मान के किले को तोड़ देता है, शैतान प्रवृत्ति सत्प्रवृत्ति को मार भगाती है। नूरजहां, जहांगीर की अङ्कशायिनी होती है।

इसी का नाम वास्तविक अन्तर्युद्ध है। यह विरोध ही नाटक का प्राण है। बाहर का युद्ध भी नाटक का एक प्रयोजनीय अङ्ग है; पर केवल उसी के वर्णन से नाटक उत्कृष्ट श्रेणी का नहीं हो सकता।

आदर्शवादी और प्रकृतवादी।

हमने ऊपर यह बात बतलाने का प्रयत्न किया है कि, मनुष्य प्रकृति दोष और गुणों की समष्टि है। उसमें जिस प्रकार सेवा, स्वार्थत्याग, प्रेम, विश्वास आदि सद्गुणों का समावेश रहता है उसी प्रकार छल, लम्पटता, कृतघ्नता, विश्वासघात आदि दोष भी विद्यमान रहते हैं। कुछ आदर्श-चरित्रों को छोड़ कर मनुष्य मात्रका चरित्र, दोष और गुणों से गठित रहता है। दोष और गुणों की इस समष्टि में से जो नाटककार हंसक्षीर न्याय से केवल एक ही प्रकृति को छांट कर उसी का चरित्र चित्रण करता है उसके नाटक आदर्श-वादी (Idealistic)

कहलाते हैं। और जो नाटककार बिना किसी प्रकार के आदर्श को सम्मुख रक्खे वास्तविक गुण दोष युक्त मानव-चरित्र की सृष्टि करता है उसके नाटक प्रकृत-वादी (Realistic) कहलाते हैं।

आदर्शवादी नाटकों का लेखक अपने सम्मुख एक आदर्श रखकर उसके हिसाब से नाटक-रचना करता है। उसे उस समय इस बात का ध्यान रखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती कि, " मनुष्य प्रकृति वास्तव में कैसी रहती है " प्रत्युत उसका ध्यान तो " मनुष्य प्रकृति कैसी होना चाहिए " इसी बात को बतलाने में लगा रहता है। मनुष्य प्रकृति में जितने दोष हैं वह उनको छूता तक नहीं, उनकी उपेक्षा करते हुए वह उसके गुणों की ओर आकृष्ट होता है। इस प्रकार के नाटकों का चरित्र आरम्भ से अन्त तक प्रायः एक ही ढांचे में ढला हुआ, एवं घात प्रतिघात से प्रायः शून्य हुआ करता है। क्योंकि घात प्रतिघात तो तभी हो सकता है जब विरोधी प्रवृत्तियों का अस्तित्व हो।

प्रकृतवादी नाटकों में यह बात नहीं होती। उनमें मनुष्य प्रकृति का यथार्थ चित्रण किया जाता है। परस्पर की विरुद्ध प्रवृत्तियों का घात प्रतिघात भी उनमें पाया जाता है। एवं पात्रों के चरित्र की विषमता भी उनमें दृष्टिगोचर होती है। संक्षिप्त में कहें तो हम यों कह सकते हैं कि, जिनमें स्वर्ग का चित्र अंकित किया जाता है वे आदर्शवादी कहलाते हैं, और जिनमें मृत्युलोक का वास्तविक चित्र रहता है वे प्रकृतवादी आदर्शवादी नाटकों को हम एक निर्मल जल का भरा हुआ स्थिर, शान्त और तूफान से रहित सरोवर कह सकते हैं और प्रकृतवादी नाटकों को टेढ़ी

मेढ़ी गति से बहती हुई, लहरों और भंवरों से युक्त अशान्त सरिता।

आदर्शवादी नाटक केवल मानव हृदय की अनुकूल वृत्तियों के सामाञ्जस्य की रक्षा करके लिखे जाते हैं। उन में मनुष्य हृदय की विरुद्ध प्रवृत्तियों का संघर्षण नहीं रहता। और इसी कारण उनमें मनुष्य चरित्र का एक पूरा पहलू (Black side) अप्रत्यक्ष रह जाता है। क्योंकि, केवल गुणों ही गुणों का अथवा दोषों ही दोषों का वर्णन एक सम्पूर्ण मनुष्य चरित्र नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के नाटकों में नाटककार के प्रकृति ज्ञान का भी पूरा परिचय नहीं मिलता।

नाटककार की वास्तविक विद्वत्ता एवं नाटक की महत्ता विपरीत प्रवृत्तियों के समूह का वास्तविक चित्र दिखाने में ही प्रगट होती है। क्योंकि इसमें मनुष्य प्रकृति के सब पहलुओं पर प्रकाश डालना पड़ता है। अत्याचार और क्षमा के, कठोरता और करुणा के विश्वास और कृतघ्नता के क्रोध और संयम के घात प्रतिघात को जो नाटककार अपने नाटक में स्पष्ट रूप से खोलकर दिखा सकता है उसी का कृतित्व प्रशंसनीय है। इसी को अन्तर्विरोध कहते हैं। मनुष्य को एक शक्ति धक्का देती है और दूसरी उसे पकड़ कर रोक रखती है। घुड़सवार की तरह कवि एक हाथ से चाबुक मारता है और दूसरे हाथ से रास पकड़े खींचे रहता है। ऐसे कवि ही सच्चे मनोवैज्ञानिक होते हैं।

लेकिन संस्कृत- साहित्य के प्रायः बहुत से अच्छे २ नाटकों में नायकों का आदर्श चरित्र अंकित किया गया है। महाकवि भवभूति के "राम" सर्व गुण सम्पन्न महा पुरुष हैं। कालिदास के दुष्यन्त भी सर्व गुण सम्पन्न न सही, पर प्रायः सब दोषों

से विहीन राजा हैं। पर इसका कारण यह नहीं है कि, ये लोग मनुष्य प्रकृति के पहलुओं से अथवा मानसिक विकारों से अपरिचित थे। सर्व दोष विहीन होने पर भी कालिदास ने दुष्यन्त के मानसिक विकारों का जो एक अद्भुत चित्र खींचा है, वह संसार के साहित्य में दुष्प्राप्य है। पर फिर भी इनके चरित्र जो आदर्श होते थे, इसका एक दूसरा ही कारण है।

संस्कृत साहित्य में अलंकार शास्त्र नामक एक मशहूर शास्त्र है। चाहे कवि कितना ही बड़ा क्यों न हो, उस शास्त्र की अवहेलना नहीं कर सकता। उस शास्त्र का एक विधान यह भी है कि, जो नाटक का नायक हो उसे सब गुणों से अलंकृत और दोषों से रहित होना चाहिए।

यद्यपि देखने में यह नियम बहुत कठोर है, पर नाटक कला की सुकुमारता को अक्षय रखने के लिये यह आवश्यक भी है। उपरोक्त नियम का मुख्य उद्देश्य यह है कि, नाटक का विषय महत् होना चाहिए। यद्यपि लेखक की क्षमता और प्रतिभा साधारण चरित्र के अंकित करने में भी अच्छी तरह व्यक्त हो सकती है, उसमें सूक्ष्म वर्णना और दार्शनिक विश्लेषण भी रह सकता है, पर उस प्रकार के नाटकों के देखने से दर्शकों या श्रोताओं का हृदय स्तंभित या स्पंदित नहीं होता। दर्शकों के हृदय में उस नाटक को देखते २ ग्रन्थ कर्त्ता के रचना नैपुण्य पर एक प्रकार का सम्मान अवश्य उत्पन्न हो जाता है। पर वह रचना उच्च श्रेणी की नहीं कही जा सकती। उत्तम रचना तो वही कही जाती है कि, जिसे देखते २ या सुनते २ दर्शक या श्रोता उसी में लीन हो जाय। उस समय वे अपने अस्तित्व को ही भूल जांय। जिस नाटक को पढ़ने से ग्रन्थ कर्त्ता के कौशल का

उसकी क्षमता का, उसकी प्रतिभा का, श्रोताओं के हृदय पर असर पड़े, वह नाटक उस नाटक की बराबरी पर नहीं रक्खा जा सकता, जो पढ़ने वाले के सारे विचारों को, तमाम अनुभूतियों को और समस्त मनो योग को अपने में लीन कर लेता है।

इस प्रकार के नाटकों की रचना वहां तक नहीं की जा सकती, जहां तक इसके नायकों में किसी प्रकार की विचित्रता या विशेषता न हो। नाटककार को अपनी प्रतिभा दिखाने के लिये एक विस्तृत कार्य्यक्षेत्र की आवश्यकता होती है। जहां तक उसे विस्तृत मैदान न मिल जाय, वहां तक वह अपनी प्रतिभा का घोड़ा कैसे दौड़ा सकता है। जहां तक उसे समुद्र प्राप्त न हो जाय वहां तक वह लहरें कैसे दिखा सकता है।

इसी कारण नाटक के विषय को महत् बनाने के लिये कवि को महत् चरित्र की आवश्यकता रहती है। और उस महत् चरित्र के लिए "राजा" की योजना ठीक समझी जाती है। क्योंकि, राजा सम्पूर्ण जाति का प्रतिनिधि समझा जाता है। राजा के प्रेम राजा के युद्ध और राजा की उन्मत्तता में एक प्रकार का एक ऐसा मोह पाया जाता है। जो साधारण गृहस्थों में नहीं पाया जाता। इसी कारण संसार के अधिकांश श्रेष्ठ नाटकों के नायक प्रायः राजा हैं।

अतएव हमें यह नियम बिलकुल उचित मालूम होता है कि, नाटक का नायक महत् होना चाहिए। परन्तु "संस्कृत" अलङ्कार शास्त्र का यह नियम कि नायक सर्व गुण सम्पन्न होना चाहिए. बहुत ही अधिक कट्टर है। इस नियम का पालन करने से नाटक में कई दोषों का समावेश हो जाना संभव है। पहला दोष तो उसमें यह आ जाता है कि, मानवीय प्रकृति का एक

पहलू (Black side) उसमें बिलकुल अप्रत्यक्ष रह जाता है। हम ऊपर बार २ इस बात को कह आए हैं कि, मनुष्य हृदय में जहां अनेक सत्प्रवृत्तियों का समावेश रहता है, वहां दुष्प्रवृत्तियां भी उसमें विद्यमान रहती हैं। उन दुष्प्रवृत्तियों का चित्र न खींचने से एक पहलू के अप्रत्यक्ष के रहने के सिवा चरित्र में एक प्रकार की अस्वाभाविकता घुस जाती है। क्योंकि स्वाभाविक मानव हृदय में दोष और गुणों की समष्टि विद्यमान रहती है। और वर्णित नायक में यदि केवल सद्गुणों का ही समूह रख दिया जाय तो वह सजीव सच्चा और स्वाभाविक मनुष्य नहीं रह सकता। इसी बात को हम आदर्शवादी और प्रकृतवादी नाटकों की मीमांसा करते हुए विशेष रूप से ऊपर कह आये हैं।

यद्यपि संस्कृत अलङ्कार शास्त्र का यह नियम कि, "नाटक का विषय महत् होना चाहिए" सम्पूर्ण रूप से ग्राह्य है, तथापि उसकी यह कट्टरता कि, "नायक को सर्व गुण सम्पन्न होना चाहिए' नाटक रचना के मार्ग को बहुत ही कठिन बना देती है।

यद्यपि उस समय अलङ्कार शास्त्र का बहुत प्रभाव होने से संस्कृत कवियों ने जान बूझ कर उसकी कहीं भी अवहेलना नहीं की है-भर कोशीश उन्होंने अपनी प्रतिभा को लगाम लगा कर नायकों को सर्व गुण सम्पन्न बनाने की चेष्टा की है। पर फिर भी उनके नाटकों में जगह जगह पर नायकों के प्रति उनका उमड़ा हुआ क्रोध गेरू के झरने की भांति उनके हृदय को विदीर्ण करके निकल ही पड़ा है। स्थान स्थान पर उनके हृदय से सताने वाले के प्रति क्रोध के, और सताए हुओं के प्रति अनुकम्पा के भाव निकल रहे हैं।

ऐसा होना ठीक भी है, जो प्रतिभा शाली कवि है, उसकी प्रतिभा के स्फोट को लाख अलङ्कार शास्त्र भी नहीं रोक सकते। नायक को सर्व गुण सम्पन्न करने के चेष्टा में वह अपनी प्रतिभा को संमत करने की कोशिश अवश्य करता है। फिर भी यदि कहीं उसका नायक अत्याचार पर कमर कसता है तो, उसकी प्रतिभा के पहाड़ से क्रोध झरना निकल ही पड़ता है।

महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त को सर्वगुण सम्पन्न बनाने की चेष्टा की है। महाभारत के लम्पट दुष्यन्त को उन्होंनेअच्छी तरह से मांज कर सर्व गुण सम्पन्न बनाया भी है। उनकी प्रतिभा ने दो ऐसी कल्पनाओं की सृष्टि की है, जिसके कारण दुष्यन्त साफ बच गये हैं। उन दो कल्पनाओं में से पहली अभिशाप की है। और दूसरी अभिज्ञान की। यद्यपि इन दो कल्पनाओं से कविने दुष्यन्त के काले चरित्र को प्रकाशमान कर दिया है। पर फिर भी शकुन्तला प्रत्याख्यान के समय में शाङ्गंधर और गौतमी के द्वारा उन्होंने राजा की जो भर्त्सना की है, वहां पर उनकी प्रतिभा फूट पड़ी है। बहुत रास खींचते रहने पर भी मानों उनकी प्रतिभा अलंकार शास्त्र की परवाह न करते हुए आगे बढ़ती चली जा रही है। शकुन्तला सताई हुई है, दुष्यन्त के अत्याचार से पीड़ित है, दुष्यन्त अत्याचारी है उसके अत्याचार के प्रति कवि को भर्त्सना प्रगट करनी ही पड़ेगी, शकुन्तला दुर्भागिनी है, उसके दुर्भाग्य को देखकर कवि को रोना ही होगा। अलङ्कार शास्त्र के रोके हो ही क्या सकता है।

इसलिये हमारी समझ में यदि इस कट्टरता को नाट्य-शास्त्र से निकाल दिया जाय तो किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं होगी। उलटे इससे एक लाभ यह होगा कि,

इस नियम से नाटयकारों की प्रतिभा के ऊपर जो एक प्रकार का बन्धन है, वह दूर हो जायगा; और उनकी प्रतिभा खुली आजादी से अपना प्रकाश फैला देगी। इंग्लैंड में भी एक समय हमारी ही तरह "Poetic justice" (काव्य न्याय) नाम की एक साहित्यिक नीति थी, किन्तु इस नीति को साहित्य के विकाश में एक प्रकार की बाधा समझकर वहां के लेखकों ने प्रायः उसे छोड़ दिया है। और यही कारण है कि, वहां के नाटक इस कट्टर बन्धन से मुक्त होकर खूब तेजी के साथ अपना विकास कर रहे हैं। उदाहरणार्थ हम महाकवि शेक्सपीयर का ही नाम पाठकों के सम्मुख रखेंगे। उनके सभी नाटकों के विषय प्रायः महत् हैं। लेकिन उनके नायकों में सर्व गुण तो दूर, पर उल्लेख योग्य एक भी विशेष गुण नहीं पाया जाता। हेम्लेट अवश्य ही उनका एक ऐसा पुत्र है, जिसमें पितृभक्ति-एक उल्लेख योग्य गुण है, मगर वह अन्त तक टाल टूल ही करता रहता है। लियर तो एकदम पागल ही है। मैकमेथ नमकहराम है, एण्टोनी कामुक है, जूलियससीजर धार्मिक है। शेक्सपीयर के इन नायकों में कोई भी उल्लेख योग्य गुण न होने पर भी उन नाटकों में कई ऐसे चरित्रों का समावेश हो गया है, जिनके कारण से वे सब पात्र एकदम चमक उठे हैं। "होरेशियो," "पालोनियस," "ओफेलिया," "केण्ट," "फूल," "एडगर," "कार्डलिया," "डेस्डिमोना," "वैंको," "मैकडफ़," आदि पात्रों के उज्ज्वल चरित्र से सभी नाटकों के विषय अत्यन्त महत् हो गये हैं। हमारे ही देश के आधुनिक नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने भी अपने नाटकों में इस नियम की अवहेलना की है, और इसी कारण हम देखते

हैं कि, आधुनिक जीवित भारतीय भाषाओं में किसी भी लेखक ने अभी तक उनका मुकाबिला करने का साहस नहीं किया है। हमारी राय में नाटकों के विषय महत् होने की अत्यन्त आवश्यकता है, नाटक का नायक भी उच्च कोटि के मनुष्यों में होना चाहिए। पर उसके लिये यह कोई आवश्यकता नहीं कि, वह नायक सर्व गुण संपन्न हो। मानवीय प्रकृति के अनुसार उसमें दोष और गुणों की समष्टि होना आवश्यक है।

इतने विचार के पश्चात् हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि, केवल आदर्श का प्रचार करने के लिए आदर्शवादी नाटकों की आवश्यकता है। पर नाट्यकला की दृष्टि से, चारित्र चित्रण के उद्देश्य से, और मनुष्य प्रकृति का दिग्दर्शन करवाने के हेतु से प्रकृतिवादी नाटक ही श्रेष्ठ हैं।

छठवां अध्याय।

सुखान्त और दुःखान्त।

संस्कृत अलंकार शास्त्र के पूर्वकथित (अर्थात् नायक सर्वगुण सम्पन्न हो) नियम के साथ ही एक नियम यह भी है कि, नाटक का अन्त सुख पूर्ण होना चाहिए। अनेक घटनाओं का घात प्रतिघात सहते २ एवं अनेक बाधाओं का सामना करते २ अन्त में उस नाटक के मुख्य नायक को अपने निर्दिष्ट लक्ष्य पर पहुंच जाना चाहिए। हमारी समझ में इस नियम का उपरोक्त कथित (नायक सर्व गुण सम्पन्न हो) नियम से कारण कार्य का सम्बन्ध है। क्योंकि, जब नायक सर्व गुण सम्पन्न है पुण्यात्मा है सब पापों और दोषों से रहित है, तो यह भी निश्चित है कि,

उसका अन्त कभी दुखःमय न हो। ईश्वरीय न्याय के अनुसार पुण्य का फल सुखमय होना, चाहिए सुकृत्य का अच्छा फल मिलना यही वास्तविक न्याय है, और इसीलिये पुण्यात्मा नायक का सुखमय अन्त होना भी आवश्यक है। धर्मात्मा पुरुष का दुःखमय अन्त देखना किसी को वांछनीय नहीं होता। और इसी कारण संस्कृत के प्रायः सभी नाटक सुखान्त होते हैं। यहां तक कि, रामायण में सीता के पाताल प्रवेश के पश्चात् राम-सीता के पुनर्मिलन का कोई उल्लेख न होने पर भी अलङ्कार शास्त्र के इसी नियम की रक्षा के लिये भवभूति ने बलात्कार एक कष्ट कल्पना को जन्म देकर राम और सीता का पुनर्मिलन करवा दिया है।

यद्यपि यह नियम बहुत ही संङ्गत है, तथापि ग्रीस, रोम और यूरोप के नाटककारों ने इसकी बहुत ही अवहेलना की है। शेक्सपियर के भी अधिकांश नाटक (Tragedy) दुःखान्त है। कविवर द्विजेन्द्रलाल राय भी दुःखान्त नाटकों के पक्षपाती हैं। व अपने पक्ष के समर्थन में बड़ी ही प्रामाणिक दलील देते हैं, वे कहते हैं—

"मैं इस नियम का अनुमोदन नहीं करता। क्योंकि वास्तव जीवन में प्रायः अधर्म की ही जय अधिक देखी जाती है। अगर ऐसा न होता तो क्षुद्रता, स्वार्थ, एवम् प्रतारणा से यह पृथ्वी छा न जाती। अन्त में यदि धर्म की जय अवश्य होती तो उन सब उदाहरणों को देखकर अधिकांश मनुष्य धार्मिक हो जाते। और जो ऐसा होता तो धार्मिक होने के लिए कोई प्रशंसा का पात्र न होता। मनुष्य जीवन में प्रायः देखा जाता है कि, अनेक समय धर्म को मृत्यु पर्यन्त सिर झुकाए चलाना पड़ता है और

अधर्म शेष पर्यन्त सिर उठाए चला जाता है। ईसामसीह और सुकरात का जीवन इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

"साहित्य में अगर अधर्म की जय और धर्मकी हार दिखलाई जाय तो क्या उसके द्वारा दुर्नीति की शिक्षा दी जाती है यह कहा जा सकता है? कभी नहीं। धर्म तभी धर्म है, जब वह आर्थिक लाभ हानि की ओर लक्ष्य नहीं करता, जब वह अपने दुःख और दारिद्र्य की दशा में भी एक गौरव का अनुभव करता है। जब सुख ही धर्म पालन का पुरस्कार गिना जाता है। (Latimer cranmer) ने जिस तेज से मृत्यु को गले लगाया था, महाराणा प्रतापसिंह ने जिस बल से मृत्यु पर्यन्त दुखः भोग किया था उसकी गरिमा केवल दर्शकों और पाठकों को ही मुग्ध नहीं करती। स्वयं आत्मत्याग करने वाला आदमी भी उस गौरव और सुख का अनुभव करता है।"

"स्वर्गलाभ होगा यह समझकर धार्मिक होना भविष्य में सम्पत्ति शाली होंगे यह सोचकर सत् होना और प्रत्युपकार पाने की आशा से उपकार करना धर्म नहीं है। यह स्वार्थ सेवा है। जो शिक्षा सत्य को खण्डित या शुण्ण करती हैं। वह सत्य के साथ टक्कर खाकर चूर्ण हो जाती है। उच्च नीति शिक्षा वही है जो सत्य को डरती नहीं बल्कि गले लगाती है। नीति शिक्षा देना हो तो कहना होगा "देखो धर्म का पुरस्कार कोरा दुःख ही होता है, किन्तु उस दुःख का जो सुख है, उसके आगे सब तरह की सम्पत्ति और सुख फीके पड़ जाते हैं" जो सच्चा धार्मिक है वह धर्म का कुछ भी कोई भी पुरस्कार नहीं चाहता। वह जो धर्म का प्यार करता है सो धर्म की पदवी को देख कर नहीं, धर्म के सौन्दर्य को देख कर।"

"सत्य का अपलाप करके धर्म बलवान नहीं होता। साहित्य में धर्म की पार्थिव अधोगति को देख कर वह आदमी जिसने धर्म में सौन्दर्य्य देख लिया है, कभी धर्म की ओर से पश्चात्पद न होगा। पश्चात्पद वही होगा जिसने धर्म को बेचने और खरीदने की सामग्री समझ रक्खा है। जो धर्म के बदले में कुछ चाहता है।"

बड़ी ही सुन्दर दलील है। लेखक ने बहुत सुन्दर शब्दों में अपने पक्ष का समर्थन किया है। आदर्शवाद की दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व हो सकता है पर व्यवहारिक दृष्टि से यदि इस पर विचार किया जाय तो अवश्य इसमें कुछ त्रुटियां मालूम होंगी। यह एक व्यापक सिद्धान्त है कि, "धर्म का फल अन्त में सुख होता है।" क्या धर्म शास्त्र क्या दर्शनशास्त्र क्या न्यायशास्त्र आदि दुनियां के सभी शास्त्र और सभी धर्म इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, ऐसे भी कई अपवाद अक्सर हो जाया करते हैं, जो इस सिद्धान्त में बाधा डाल देते हैं, फिर भी उनसे इस सिद्धान्त की व्यापकता में कोई अन्तर नहीं आ सकता। लेखक का यह कथन बिलकुल ठीक है कि, सच्चा धार्मिक कभी किसी फल की आशा से धर्म नहीं किया करता लेकिन उसके साथ ही यह भी ठीक है कि, कभी न कभी उसके धर्म का पुरस्कार मिले बिना नहीं रहता। इस जन्म में यदि उसे सुख न मिला तो पुनर्जन्म में मिलेगा। पर मिलेगा अवश्य। लेखक ने अपनी इस दलील में धर्म की बहुत ही ऊँची व्याख्या कर डाली है, पर हमारी समझ में कुछ इने गिने महापुरुषों को छोड़कर संसार में ऐसे धार्मिक बहुत ही कम हुआ करते हैं। जनता का अधिकांश भाग प्रायः इस श्रेणी का धार्मिक होता है जो

सकाम वृत्ति को लेकर ही धर्म करता है, और यदि उनके आगे धर्म की इस प्रकार अधोगति दिखलाई जाय तो सम्भव है वे उस धर्म को छोड़कर अधार्मिक हो जांय । यह निश्चय है कि, इस प्रकार के धार्मिक उस ऊँची श्रेणी में कदापि नहीं रक्खे जा सकते फिर भी चाहे जिस कारण से ही वे अपने धर्म की रक्षा कर रहे हैं, और सम्भव है कि, इस नीची श्रेणी से विकास करते २ वे अन्त में उस ऊँची स्थिति को भी पहुँच जांय। पर यदि नीची स्थिति में ही हम उन्हें धर्म की इस प्रकार अधोगति दिखलाएंगे तो निश्चय है कि, वे फिसल पड़ेंगे। फल यह हो सकता है कि, इस प्रकार के नाटकों में धर्म की पराजय और पाप की विजय देखकर जनता का बहुतसा भाग दुराचार की ओर प्रवृत्त हो सकता है। हां, यदि लेखक की कल्पना के अनुसार जनता का बहुतसा भाग इस ऊंची श्रेणी का धार्मिक हो जाय तो फिर इस प्रकार की ट्रेजिडी लिखने में कोई हांनि नहीं।

अतएव हमारी समझ में यदि नायक सर्वगुण सम्पन्न रक्खा जाय तब तो नाटक का सुखान्त होना ही ठीक है। पर यदि नायक के चरित्र में दोष और गुणों की समष्टि रक्खी जाय तो उस हालत में ट्रेजिडी का लिखना हानि कारक नहीं हो सकता। अतःसिद्ध हुआ कि, रियालिस्टिक (प्रकृतिवादी) नाटकों का अन्त तो दोनों ही प्रकार से किया जा सकता है, पर आइडियालिस्टिक (आदर्शवादी) नाटकों का अन्त लोकहित की दृष्टि से सुखपूर्ण होना ही ठीक है।

रियालिस्टिक नाटकों की ट्रेजिडी का हमने ऊपर समर्थन किया आवश्य है, लेकिन हमने उसी प्रकार की ट्रेजिडी का समर्थन किया है जिसमें हत्या, रक्तपात आदि के दृश्य न हो। हत्या,

रक्तपात, विषपान, आदि युक्त जघन्य ट्रेजिडी का समर्थन हम कदापि नहीं कर सकते। हत्या, रक्तपात व्यभिचार आदि के दृश्यों को स्टेज पर देखने से जनता की रुचि भ्रष्ट हो जाती है। उसमें कई प्रकार के दुर्भावों का सञ्चार हो जाता है। इसी कारण संस्कृत नाटकाचार्यों ने भी स्टेज पर इस प्रकार के विभत्स दृश्य दिखाने का बिलकुल निषेध कर दिया है। यथा—

> दूराव्हान वधो युद्ध राज्य देश हि विप्लवः।
> विवा हो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यु रतस्त था।
> दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यं यन्यदं व्रीड़ा करज्ययत्।
> शयनाधर पानादि नगरा‌धु परोधनम् ।
> स्नानान्युलेपने चौभिर्वर्जितो नाति विस्तरः ।

(अर्थात्—दूर से बुलाना, वध करना युद्ध, राज्य और देश का विप्लव, विवाह, भोजन, मृत्यु, दन्तच्छेद, शयन, पानखाना स्नान, लेप, आदि बातें रंगभूमि में वर्जनीय है)

हमारी समझ में एक दो बातों को छोड़ कर रंगभूमि का यह विधान बहुत ही उत्तम है। इसी विधान की कृपा से हमें अपने संस्कृत नाटकों में अंग्रेजी नाटकों की तरह "डेस्डिमोना" के समान पवित्र और निर्मल देवी की हत्या के विभत्स दृश्य देखने को नहीं मिलते। पाठकों के अवलोकनार्थं उस दृश्य का थोड़ासा हिस्सा नीचे उद्धृत किया जाता है—

Desdemona—O, Banish me my Lord but kill me not!

Othello—Down, strumpet!

Des,—Kill me to-morrow: let me live to night!

Oth.—Nay, if your strive,—
Des.—But, half an hour!
Oth. Being done, there is no pause
Des.—But while I say one prayer!
Oth. It is too late (He stifles)

डेस्डिमोना—मेरे स्वामी! मुझे घर से निर्वासित कर दो,
पर जान से मत मारो।
आथेलो—दूर हो, कलङ्किनी।
डेस्डिमोना—अच्छा मुझे कल मार डालना। आज रात भर के
लिए मुझे जीवन भिक्षा दो।
आथेलो—नहीं, तेरा यह कहना व्यर्थ है।
डेस्डि०—खैर, आधा घण्टा तो जीने दो।
आथेलो—इससे क्या लाभ, अब मैं नहीं रुक सकता।
डेस्डि०—लेकिन, ईश्वर-प्रार्थना तो कर लेने दो?
आथेलो—बहुत देर हुई जा रही है। (गला घोंटकर मार देना)

इस भयङ्कर दृश्य को देखकर सचमुच हृदय कांप उठता है। उस सरल हृदया, निष्कलंका की हत्या होते हुए देखकर किस सहृदय के हृदय में क्रोध, घृणा, और कुरुचि का संचार न होगा। भगवती सीता का रामचन्द्र के द्वारा अन्यायपूर्वक प्रत्याख्यान देखकर ही जब हमारा हृदय क्रोधाभिभूत हो जाता है, तब इस हत्या को देखकर यदि दर्शकों के हृदय में कुरुचि का आविर्भाव हो जाय तो क्या आश्चर्य्य।

स्वयं यूरोप के कई विद्वानों ने इस प्रकार की ट्रेजिडी की घोर निन्दा की है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ समालोचक एडिसन कहते हैं—

But among all methods of moveing pity or terror, there is none so absurd and barbarous, and which more exposes us to the contempt and ridicule of our neighbours, than that dreadful butchering of one another which is so, upon the English stage. To delight in seeing men stabbed, poisoned, ruked, or impoled, is certainly the sign of a cruel temper; and as this is often practised before the British stages several French Critics, who think these are great specialites to us, take occassion from them to represent us as a people that delight in blood. It is indeed very odd to see our stage strewed with carcassed in the last scenes of a tragedy, and to see in the wardrobe of the play-house, several daggers, poniards, wheels, bowls for poison and many of the instruments of death".

अर्थात्—किन्तु करुणा और भयानक रस का सञ्चार करने के लिये हमारे पास कई साधन हैं। उनमें एक के द्वारा दूसरे की हत्या करने का जो भयानक दृश्य अंग्रेजी रङ्गालयों में दिखाया जाता है वह बड़ा ही निष्ठुर और अनुचित है। इसके कारण हम अपने पड़ोसियों के समीप ही घृणित और उपहासास्पद सिद्ध होते हैं। मनुष्यों की भयङ्कर हत्या विष प्रयोग और कारारोध के भयङ्कर दृश्यों को देखकर हमारा प्रसन्न होना हमारी क्रूर प्रकृति का परिचायक है।

ऐसे दृश्यों को प्रायः हमारी स्टेजों पर अभिनीत होते देख कर अनेक फ्रेन्च समालोचक-जो इन बातों को हमारे लिये खिलवाड़ समझते हैं-यह कहने का अवसर पाते हैं कि, अंग्रेज़ खून के प्यासे होते हैं,+ और उनका ऐसे ही कामों में मन लगता है। इसमें सन्देह नहीं कि, जब ट्रेजिडी की समाप्ति होती है तब रंग-मँच को मुरदों से भरा देखना और नेपथ्य शाला में कटार, छुरा, पिस्तौल, विषमात्र तथा अन्यान्य ऐसे ही प्राणनाशक साधनों का देखना बड़ा ही बुरा मालूम होता है।

एडिसन का यह कथन बिलकुल वास्तविक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाटक में नवरस होना चाहिए। और उन नव-रसों में "भयानक" भी एक रस है। पर हत्या और रक्तपात कभी करुणा और भयानक रस के परिणाम नहीं हो सकते। रस का परिणाम आनन्द है, पर हत्याकाण्ड को देखकर हमें कभी आनन्द नहीं हो सकता। इस प्रकार का हत्याकाण्ड कवित्व के लिये भी हानिकारक है। एक दूसरे अंग्रेज़ विद्वान का कथन है कि, Butchery is not poetry" अर्थात् "हत्याकाण्ड कविता नहीं है"। वह रस को पुष्ट नहीं करता प्रत्युत रस का गला घोट कर उसको निरस बना देता है।

हम "ट्रेजिडी" के विरोधी नहीं। रियालिस्टिक नाटकों में हम ट्रेजिडी की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। पर इस प्रकार के हत्याकाण्ड से युक्त कुरुचि को बढ़ाने वाली ट्रेजिडी के हम सर्वथा विरुद्ध हैं। हम उसी ट्रेजिडी के पक्षपाती हैं जो हृदय में करुणा रस का स्रोत बहा दे। रामायण का अन्तिम भाग प्रायः सारा का सारा ही ट्रेजिडी है, सीता के निर्वासन के बाद से

उसके पाताल प्रवेश तक हमारी आँखों के आँसू नहीं सूखते, पर उस ट्रेजिडी से हमारे हृदय में कुरुचि उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत प्रारम्भ से अन्ततक निर्मल करुण रस की एक धारा हृदय में बहती रहती है। इसी प्रकार महाभारत में भी कृष्ण के देहावसान के बाद के सब दृश्य प्रायः ट्रेजिडी हैं, पर उनसे भी हमारे हृदय में कुरुचि उत्पन्न नहीं होती, बल्कि एक प्रकार के भयानक रस का हृदय में उद्वेग हो आता है। पर शेक्सपियर के "किंगजान" नाटक में जहां ह्यूबर्ट लोहे की लाल २ शलाखें लेकर आर्थर की आँखें फोड़ने के लिये आया है, और उस कार्य्य के लिये वह यत्न करता है वह दृश्य बड़ा ही घृणास्पद और कुरुचि का उत्पादक हो गया है, मनुष्य की उस पाशव प्रवृत्ति का अवलोकन कर हमें मनुष्य मात्र से घृणा होने लगती है। उस दृश्य के द्वारा हमारे हृदय में करुणा रस का संञ्चार होने के स्थान पर घृणा का संचार हो जाता है। इस प्रकार के दृश्यों के हम अवश्य विरोधी हैं।

उपरोक्त कथन से हमारा यह मतलब कदापि नहीं है कि, इस बहाने से हम शेक्सपियर की निन्दा करें। हमारी शेक्सपियर पर उतनी ही श्रद्धा है जितनी एक कट्टर अंग्रेज़ की होती है। उपरोक्त कथन से हमारा मतलब यही है कि, इस प्रकार के दृश्य भारतीय रुचि के अनुकूल नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर ने कई दृश्य ऐसे भी लिखे हैं जिनमें हत्याकाण्ड का लेश भी नहीं है। जिनमे मनुष्य प्रकृति की उच्चता के नमूने मिलते हैं। उनके कितने ही नाटक ऐसे भी हैं जो ट्रेजिडी होते हुए भी कॉमेडी हैं। ऐसे स्थानों पर उनकी जितनी ही प्रशंसा कीजाय उतनी ही कम है। पर बात यह है कि उन्होंने जितने

भी नाटक लिखे वे सब यूरोपीय आदर्श के अनुसार लिखे हैं। यूरोप के समाज दशा का ज्वलन्त चित्र उनमें पाया जाता है। पर यूरोपीय और भारतीय आदर्श में बहुत अन्तर है-बल्कि कहीं २ तो बिलकुल विरोध है-इसलिये यूरोपीय आदर्श के बिलकुल अनुकूल होते हुए भी वे भारतीय आदर्श के प्रतिकूल हैं। यूरोपीय और भारतीय आदर्शों का विस्तृत विवेचन हम एक स्वतन्त्र अध्याय में करेंगे। यहां पर तो प्रसङ्गवशात् कुछ बातें लिख दी हैं।

हमारी समझ में नाटक के अन्तर्गत हत्या, रक्तपात, विषपान आदि की घटनाएं यदि आ पड़े तो उनको नेपथ्य में करके दर्शकों को उनकी सूचना मात्र दे देना ही यथेष्ठ है।

अतएव सिद्ध हुआ कि-आदर्शवादी नाटक सुखान्त होने चाहिए। प्रकृतिवादी नाटकों में सुखान्त और दुःखान्त दोनों ही आवश्यक हैं। पर दुखान्त नाटकों में भी हत्या, रक्तपात, विषपान, आदि के दृश्य प्रत्यक्ष में अभिनीत न हों। दुःखान्त नाटकों का मुख्य उद्देश्य दर्शकों के हृदयों में करुणा और भयानक रस के सञ्चार करने का ही रहना चाहिए।

कवित्व।

प्लाट और चरित्र चित्रण के पश्चात् नाटक रचना में कवित्व पर ध्यान दिया जाता है। जिस प्रकार बिना नमक के भोजन रसहीन प्रतीत होता है। उसी प्रकार बिना कवित्व के नाटक भी निरस जान पड़ता है। इसीलिये हमारे आचार्य्यों ने कवित्व को नाटक का एक प्रधान अङ्ग माना है। इस अध्याय में हम नाटकीय कवित्व के सम्बन्ध में कुछ विचार करना आवश्यक समझते

हैं। कवित्व क्या है ? इस विषय में भिन्न २ विद्वानों के भिन्न २ विचार हैं। साहित्य दर्पण के रचयिता कवित्व की अत्यन्त संक्षिप्त परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि, "वाक्यं रसात्मक काव्यं" अर्थात् रसमय वाक्य को ही काव्य कहते हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध संमालोचक "Mathew Arnold" (मॅथ्यू आर्नोल्ड) कहते हैं।

Poetry is at bottom a criticism of life. The greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life..................Poetry is nothing less than the most perfect speech of man in which he comes nearest to being able to utter the truth.

अर्थात्-कविता वास्तव में जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण है। कवि की महत्ता इसी में है कि, वह अपने विचारों को कुशलता पूर्वक जीवन के उपयुक्त कर दे। + + + मनुष्य जब सत्य को सब से श्रेष्ठ भाषा में प्रकट करता है तब वही भाषा कविता हो जाती है।

Alfred Lyall [अल्फ्रेड लायल] का कथन है—"Poetry is the most intence expression of the Daminant emotion and the higher ideal of the age".

अर्थात्-"किसी भी युग के प्रधान भावों और उच्च आदर्शों को प्रभात्पादक रीति से प्रगट कर देना ही कविता है।"

Chambers (चेम्बर्स) का कथन है—

"Poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creation of beelings and imagination".

अर्थात्—"कोमल शब्दों में कल्पना और भावों को प्रगट करने की कला को कविता कहते हैं।"

हमारी समझ में तो प्रकृति के वास्तविक चरित्र चित्रण को ही कविता कहना चाहिये। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि, बहिर्प्रकृति और अन्तर्प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को मधुर शब्दों एवं पद्यमय भाषा में प्रगट करने की कला को ही कविता कहते हैं। जो लेखक प्रकृति की चञ्चलता, एवं मनुष्य जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण अपनी कविता में कर सकता है, वही सच्चा कवि है।

उपरोक्त वाक्यों में यद्यपि कई प्रकार से कवित्व की व्याख्या की गई है तथापि कवित्व इतना साधारण विषय नहीं है जिसकी व्याख्या एक या दो वाक्यों में कर दी जा सके। प्रकृति कवित्व-मय है। बिना प्रकृति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये कवि होना कठिन है। विज्ञान ही की तरह कवित्व भी बहुत गहन विषय है। दोनों को ही समझना बड़ा कष्ट साध्य है। कई लोग विज्ञान के साथ कवित्व की तुलना भी करने लग जाते हैं, पर हमारी समझ में सिवाय गहनता के दोनों में और कोई साम्य नहीं। बल्कि यह कहना भी असङ्गत न होगा कि, दोनों परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। वैज्ञानिकों और कवियों में कभी समझौता नहीं हो सकता। कवि कल्पना के सुन्दर राज्य में विचरण किया करता है, और वैज्ञानिक वास्तविकता की मरु में खोज किया करता है यही कारण है कि, सुप्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने कविता के पवित्र राज्य में वैज्ञानिकों का प्रवेश निषिद्ध बतलाया है + + उन्होंने एक कविता में वैज्ञानिकों के प्रति अवज्ञा दिखलाते हुए कहा है—

"Who would botanise

Over his mother's grave

अर्थात्–"अपनी माता की कबर पर कौन बनस्पति शास्त्र का अध्ययन करेगा ?

मतलब यह कि, कवित्व और विज्ञान की तुलना हो ही नहीं सकती। विज्ञान मस्तिष्क का विषय है कवित्व हृदयका। विज्ञान का आधार बुद्धि है × कविता का अनूभूति। विज्ञान सत्यमय है, कविता प्रेममय। विज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क एवं बहिर्जगत् से सम्बन्ध रखती है और कवित्व उसके अन्तर्जगत से। विज्ञान के राज्य में तर्क ही प्रधान है × पर कविता के सुन्दर राज्य में तर्क को कहीं स्थान भी नहीं। वहां पर तो विश्वास की सुन्दर धाराएं वह २ कर प्रेम की सरिता में मिलती है। कवित्व की शक्ति बहुत बड़ी है। इस शक्ति के बल से मनुष्य की हृदय तंत्री के तार जोरों से झनझना उठते हैं। इस शक्ति की नोक से क्षुब्ध होकर उसका सारा अन्तर्हृदय कांप उठता है। विज्ञान की शक्ति भी कम नहीं होती। पर इन दोनों में बड़ा कौन है इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। पर हां इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों ही की संसार को आवश्यकता रहती है।

नाटक की बढ़ी हुई इस महत्ता के अनेक कारणों में कवित्व भी एक मुख्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, कवित्व के बिना नाटक अधूरा रहता है। पर साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि, केवल मात्र कवित्व से ही उत्तम नाटक की सृष्टि नहीं हो सकती। क्योंकि, कवित्व का राज्य सौन्दर्य्य है और नाटक का दोष और गुणों से युक्त अनन्त मानव चरित्र और इसलिये नाटक में कवित्व रखते समय चरित्र चित्रण का ध्यान पहले रखना चाहिए।

नाटकीय कवित्व में दोनों प्रकार की प्रकृति का बहिप्रकृति और अन्तर्प्रकृति) चित्रण रहता है । बहिर्प्रकृति चित्रण भी नाटकीय कवित्व में स्थान २ पर आपेक्ष रहता है । पर उसको साधारण वर्णन कर देने में कुशलता नहीं है । उस प्रकृति का अन्तर्प्रकृति पर जो असर होता है उसी का वर्णन करने में कुशलता है । हमारा ख्याल है कि, बहिर्प्रकृति और मनुष्य की अन्तप्रकृति में बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है बल्कि यह कहना चाहिए कि, अन्तर्प्रकृति का जो कुछ भी विकास अथवा पतन होता है—उसका मूल कारण बहिप्रकृति रहती है । हरी २ दूबा से भरे हुवे विस्तृत मैदानों के देखने से हमारे हृदय में उदारता का उदय होता है, खिले हुए पुष्प को देखने से प्रेम का विकास होता है। वृक्षों से लिपटी हुई लताओं को देख कर हमारे हृदय में सहानुभूति का संचार हो आता है । एवं पक्षियों के मृदु कलरव से द्वेष भाव का नाश हो जाता है । कहने का मतलब यही कि, बहिर्प्रकृति और अन्तर्प्रकृति में एक निगूढ़ सम्बन्ध है । उसी सम्बन्ध को प्रगट कर देना ही कुशलता का कार्य्य है ।

लेकिन फिर भी बहिर्प्रकृति की अपेक्षा अन्तर्प्रकृति को चित्रण करने में अधिक कवित्व शक्ति प्रगट होती है । प्रकृति का मुख्य गुण जो चञ्चलता है, वह बहिर्प्रकृति की अपेक्षा अन्तर्प्रकृति में अधिक पाया जाता है । बहिर्प्रकृति के अनेक दृश्यों में हम प्रायः स्थिरता ही देखते हैं । हम जानते हैं कि, कमल बहुत ही सुन्दर है, मगर उसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि वह चिरकाल से जैसा है वैसा ही बना हुआ है । आकाश भी जैसा हमेशा से है वैसा ही बना हुआ है, पहाड़ के सौन्दर्य के विषय में प्रायः सब लोग यह जानते हैं कि, ग्रीष्म

काल में वह सब से कम और वर्षा में सब से अधिक उमड़ा हुआ रहता है। इस प्रकार प्रायः सारी बाहिर्प्रकृति के दृश्य प्रायः स्थिर ही रहते हैं, यद्यपि अपवाद स्वरूप भूकम्प, तूफान आदि घटनाओं से उनमें परिवर्तन हो जाता है, पर उससे इस व्यापक सिद्धान्त में बाधा नहीं आ सकती। लेकिन अन्तर्प्रकृति में बिलकुल स्थिरता नहीं है। क्षण २ में उसमें परिवर्तन देखा करते हैं। घटनाओं के घात प्रतिघात में पड़ कर कभी पाप कृतघ्नता के रूप में बदल जाता है, कभी अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है। कभी घृणा भक्ति के रूप में तबदील हो जाती है। और कभी प्रतिहिंसा से क्षमा की उत्पत्ति हो जाती है। मतलब यह कि, मनुष्य का अन्तर्हृदय कभी स्थिर नहीं रहता, परिस्थिति का दुर्दमनीय चक्र उसकी गति को हमेशा बदलता रहता है। यह मनुष्य-प्रकृति का एक ऐसा विकार है जो कभी दूर नहीं हो सकता। और यदि दूर हो जाय तो शायद उसका सौन्दर्य ही मिट जाय। क्योंकि, यह अनित्यता ही तो सुन्दरता का प्राण है। जो कवि मनुष्य के अन्तर्जगत् की इस अनित्यता के रहस्य को बतला सकता है, एवं जितने अन्तर्प्रकृति के इन गूढ़ रहस्यों को समझ लिया है, वही ऊँचे दर्जे का कवि है, और वही सफल नाटककार भी हो सकता है।

बहिर्प्रकृति के दृश्यों को बतलाने के लिये तो कविता से भी अधिक उत्कृष्ट दूसरे अनेक साधन हैं, उन साधनों में चित्रकला प्रधान है। प्रवीण चित्रकार बहिर्प्रकृतिके सौन्दर्य को एक घड़ी भर में जितनी सुन्दरता के साथ दिखला सकता है, उसका शतांश भी एक कवि कई छन्दों में लिख कर नहीं दिखला सकता। हमने एकबार एक ऐसी पुस्तक पढ़ी जिसमें कश्मीर

का पद्यमय वर्णन किया हुआ था, पुस्तक एक बड़े कवि की लिखी हुई थी—और अच्छी लिखी हुई थी, पर उस सारी पुस्तक को पढ़ जाने पर भी हमारे हृदय में जिन भावों का उदय नहीं हो सका, उन भावों का उदय सहज ही में कश्मीर के चित्रों का एक दृश्य देखने से हो गया। इससे हमारा यह मतलब नहीं कि, हम उस पुस्तक के कवित्व की निन्दा करें। प्रत्युत हमारा मतलब यह है कि, कवि कितना ही उत्कृष्ट क्यों न हो अपनी कविता के द्वारा बहिर्प्रकृति के दृश्यों को उतनी उत्तमता से नहीं समझा सकता जितना एक चित्रकार समझा सकता है। पर अन्तर्प्रकृति के सम्बन्ध में यह बात नहीं हो सकती, मनुष्य हृदय में होने वाले क्षणिक परिवर्तनों का स्पष्ट वर्णन जैसा काव्य के द्वारा दिखलाया जा सकता है, वैसा लाख चित्रकलाएं भी नहीं दिखला सकतीं। और इसीलिये-अन्तर्जगत् को स्पष्ट करनेके दूसरे साधन न होने से नाटकीय कवित्व में बहिर्जगत् के वर्णन की अपेक्षा अन्तर्जगत् के वर्णन को महत्त्व दिया है, इस कथन से हमारा यह मतलब नहीं है कि, नाटक में बहिर्जगत् के सौन्दर्य का वर्णन होना ही नहीं चाहिए, प्रत्युत कहने का अर्थ यही है कि, केवल बाह्य सौन्दर्य का वर्णन रखने ही से कार्य्य नहीं चल सकता। बहिर्जगत् का सौन्दर्य्य रखकर उसके आधार पर अन्तर्जगत् का सौन्दर्य्य रखने से ही नाटकीय-सौन्दर्य्य की वृद्धि होगी। महा कवि कालिदास ने बहिर्जगत् के सौन्दर्य्य का अन्तर्जगत् की वास्तविकता के साथ मिलकर जिस अद्भुत रस की चाशनी दुनियां को करवाई है, वह अपूर्व है। संसार का कोई भी कवि उसकी समानता नहीं कर सकता। शेक्सपियर अवश्य ही अन्त-र्जगत् के वर्णन में कालिदास से कुछ आगे बढ़ गये हैं, पर

बिहद्जंगत् के वर्णन में तो वे कालिदास के सम्मुख ठहर ही नहीं सकते।

कवित्व का इतना विवेचन करने के पश्चात् अब यह देखना चाहिए कि, नाटक में कवित्व को किस प्रकार गूंथना चाहिए।

नाटक में किसी भी वस्तु का वर्णन करते समय हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि, उसका वर्णन नाटकत्व के हिसाब से किया जाय। क्योंकि, नाटक में नाटकत्व की अधीनता में कवित्व विचरण करता रहता है। हम कथा-वस्तु (Plot) वाले अध्याय में यह बात कह आए हैं कि, नाटक का प्लॉट यथा-साध्य संक्षिप्त रूप में बढ़ाना चाहिए। यही नियम कवित्व पर भी लागू होता है। किसी भी वस्तु का वर्णन जहांतक हो संक्षिप्त में करना चाहिए उसमें एक एक शब्द ऐसा होना चाहिए जिसमें काव्य की प्रतिभा टपकती हो। फ़ज़ूल के वर्णन में नाटक का कलेवर बढ़ाना यह भी एक प्रकार का नाटकीय दोष है। इसके अतिरिक्त किसी भी वस्तु का बाहरी वर्णन करते समय उस पात्र की मानसिक अवस्था को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए; जिसके मुख से वह वर्णन करवाया जा रहा है। यदि वह वर्णन उसकी मानसिक अवस्था के प्रतिकूल हुआ, तो उसमें अवश्य बनावटीपन का दोष आ जायगा। मान लीजिए कि नाटक का कोई युवक पात्र किसी युवती पात्र पर मुग्ध हो गया उस समय नाटककार को नाटक में यही दिखलाना चाहिए कि वह युवक उस युवती पर क्यों मुग्ध हुआ? इस स्थान पर कवि को झट मनोविज्ञान की सहायता लेना चाहिए क्योंकि यह बात मनोविज्ञान से ही सम्बन्ध रखती है,

मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त यह है कि, युवकों का मन हमेशा स्त्री सौन्दर्य और स्त्री यौवन पर मुग्ध हुआ करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कवि को तुरन्त यह मालूम हो जायगा कि वह युवती या तो पूर्ण सुन्दरी है, अथवा यौवन के विकास काल पर आरूढ़ है। क्योंकि यदि वह युवा या वृद्धा होती तो वह कभी उस पर मुग्ध न होता। बस फौरन उसे उस पात्र के मुख से उस पात्री का वर्णन कवित्व मय ढङ्ग से करवाना उचित है। उस कथन में उस सुन्दरी की चढ़ती हुई जवानी का और खिलते हुए रूप का ऐसा सजीव वर्णन होना चाहिए। जिससे सारे दर्शक मुग्ध हो जांय। महाकवि कालिदास ने शकुन्तला नाटक के पहले अङ्क में, शकुन्तला का रूप वर्णन जिस ढङ्ग से किया है, उसे पढ़ते ही हम फौरन समझ लेते हैं कि, दुष्यन्त उस पर क्यों मुग्ध हुए थे। वे दुष्यन्त के मुख से ही उसका वर्णन करवाते हुए कहलाते हैं:—

अनाघ्रातं पुष्पं नव किसलय मलूनं करस्है।
रत्नाविद्धं रत्नं मधु नव मना स्वादि तरसम्।
अखण्ड पुण्यानां फल मिवच तद्रूप मनघं।
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।

वह निर्दोष रूप एक ऐसे फूल के समान है जिसे किसी ने सूँघा नहीं, वह एक ऐसे किसलय के समान है जिसे किसी ने नाखून से खोंटा नहीं, वह एक ऐसे रत्न के समान है जिसे किसी ने पहना नहीं, और वह ऐसे नवीन मधु के समान है जिसका रस किसी ने चक्खा नहीं। पुण्यों के अखण्ड फल के समान यह अछूता रूप विधाता न जाने किस भोग करने वाले को देंगे।

इस वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि, दुष्यन्त उस पर मुग्ध हैं। और मुग्ध होने का कारण उपरोक्त ढङ्ग का रूप है। यदि ऐसा रूप न होता तो शायद वे मुग्ध न होते। इसी रूप के कारण उनके हृदय में लालसा की हवा चलने लग गई, इसी रूप ने उनके हृदय में वासना की आग सुलगा दी। इस वर्णन के साथ ही साथ कविने युवकों के हृदय का भी एक स्पष्ट चित्र खींच दिया है। कहां जाकर युवकों के लालसामय हृदय की मृत्यु होती है, एवं कहां जाकर वे पागल हो जाते हैं, इसका उत्तर उन्होंने इसी श्लोक में दे दिया। मालूम होता है युवक हृदय के विकारों को स्पष्ट करना ही कवि का अभीष्ट था, और इसीलिये उन्होंने एक ऐसी मोहिनी मूर्ति का चित्र खींचा, जिसमें वे कामिनी भाव का प्रतिबिम्ब दिखा सकें। यदि उनका यह अभीष्ट न होता, और यदि उन्हें आदर्श ही दिखलाना होता तो शायद भवभूति की तरह वे भी सीता की ही तरह देवमूर्ति की कल्पना करते।

मतलब यह कि वर्णन इसी ढङ्ग का होना चाहिए। जिससे मनुष्य के मानसिक विकारों का पता दर्शकों को लग जाय। कोई २ पात्र ऐसे भी होते हैं जिनमें लालसा का उद्वेग ही नहीं रहता। हमेशा उनका हृदय सागर की तरह प्रशान्त रहता है, जैसे रामचन्द्र का चरित्र है। सीता के अतुलनीय रूप को देखकर वे मुग्ध होते अवश्य हैं—वे उसे प्राप्त करने की बात भी सोचते अवश्य हैं, पर सोचते हैं शान्ति के साथ। दुष्यन्त की तरह कभी उनके हृदय में लालसा का तूफान नहीं उठता। यहां तक कि, स्वयंवर सभा में भी उनमें आतुरता नहीं पाई जाती। वे सब आगुन्तकों को धनुष तोड़ने का अवसर देते हैं। और सब के निष्फल हो जाने के पश्चात् स्वयं खड़े होते हैं। मतलब यह कि प्रारम्भ से अन्त

तक उनके चरित्र में एक प्रकार की स्थिरता पाई जाती है । यदि इस प्रकार का चित्र प्रयोजनीय हो तो उसका वर्णन भी इसी ढङ्ग से करना चाहिये यदि ऐसे चित्रों में लालसा के अनुचित चित्र दिखाए जाँय तो वे अस्वाभाविक होंगे। पर हमारी समझ में ऐसे चित्र कुछेक आदर्श चरित्रों को छोड़कर संसार में कम ही पाये जाते हैं, और ऐसों का चित्रण भी आदर्श वादी नाटकों में ही किया जाता है। दुनिया में अधिकांश युवक दुष्यन्त की तरह होते हैं, राम की तरह नहीं । और रियालिस्टिक नाटकों में दुष्यन्त के समान उत्थान पतन वाले चित्रों की ही आवश्यकता रहती है।

यह तो हुई श्रृंगार रस के वर्णन की बात। इसी प्रकार भिन्न २ रसों के नायकों का भिन्न २ प्रकार का वर्णन कवित्व रूप से करना चाहिए। जहां पर मातृरूप के वर्णन का प्रयोजन रहता है, वहां पर उपरोक्त ढङ्ग से अङ्ग प्रत्यङ्गों के वर्णन की आवश्यकता नहीं। क्योंकि, जहां पर लालसा होती है वहीं अङ्ग प्रत्यङ्ग की सुन्दरता की अपेक्षा रहती है। पर जहां पवित्रता है, जहां भक्ति है एवं जो पूजा की सामग्री है उसके अङ्ग प्रत्यङ्गों से पुत्रों या भक्तों को क्या मतलब ? वह तो चाहे जैसी हो , पवित्र है और पूजनीय है ! महा कवि तुलसीदास ने उसी मातृमूर्ति का वर्णन करते हुए कहा है–

सोहन वस तनु सुन्दर सारी। जगत् जननी अनुचित छबिभारी॥

बस इतना ही वर्णन पर्याप्त है। इतने ही वर्णन से जगत् जननी की अतुलित छबि हमारी आँखों के सम्मुख नृत्य करने लग जाती है।

इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के वर्णन नाटकों में

रहते हैं। जैसे युद्ध का वर्णन, स्वयंवर सभाओं का वर्णन, राज सभाओं के वर्णन, पशु पक्षियों के वर्णन, नदी, समुद्र, पहाड़ आदि के वर्णन आदि। इन सबों के उदाहरण देना इस स्थान पर बहुत ही कठिन है, पर मतलब यह कि, मनुष्य के अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का एक क्रमबद्ध इतिहास उस वर्णन में आ जाना चाहिए। पर वह वर्णन इतना ही हो जितना कि, नाटक में आपेक्ष रहता है। किसी साधारण वर्णन में पृष्ठ के पृष्ठ रंग डालना नाटकीय नियम के सर्वथा प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त नाटक में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि, वर्णन में कहीं असङ्गतता न आ जाय। स्त्री के अङ्ग प्रत्यङ्ग का वर्णन करवाना नाटक में आपेक्ष्य है, पर ऐसा वर्णन उसी पात्र के मुख से करवाना चाहिए जिसके हृदय में लालसा की तरङ्गें उठ रही हों। और जो उस रूप पर जी जान से मुग्ध हो। यदि किसी शान्त एवं गहरे प्रेमी के मुख से ऐसा वर्णन करवाया जायगा तो अवश्य असङ्गत होगा। क्योंकि, सच्चे प्रेम का सम्बन्ध हृदय से रहता है, अङ्ग प्रत्यङ्गों से नहीं। इसी प्रकार यदि मातृरूप के वर्णन में भी अङ्ग प्रत्यङ्गों का वर्णन करवाया गया तो वह भी निन्दनीय होगा। कालिदास की महत्ता इसी में है कि, उनका वर्णन बिलकुल उचित समय पर, अनुकूल ढङ्ग से, एवं मनोविज्ञान के सिद्धान्त को लेकर हुआ करता था। "उनके नाटक के लिए जितना प्रयोजन था उससे एक पग भी वे आगे नहीं बढ़े। उन्होंने कहीं भी अपनी कल्पना को उच्छृंखल नहीं होने दिया। हमेशा वे कल्पना की गति की रास को खींचे रखते थे। वे भी चाहते तो अपने नाटकों में और भी बहुत कुछ लिख सकते थे, मगर उन्होंने नाटक के इसी नियम की

रचना के लिए अधिक नहीं लिखा, फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा वह अपूर्व है। विषम, गिरि समुद्र के बिलकुल किनारे पर से उन्होंने अपनी कल्पना के रथ को बड़े वेग से चलाया है मगर गिरने की कौन कहे, वे कहीं पर डगमगाये भी नहीं।" (द्विजेन्द्र)

उपरोक्त बातों पर पूरा ध्यान रख कर नाटक में कवित्व रखना चाहिए। और यदि सम्भव हो तो, अच्छे २ नाटककारोंके नाटक अवश्य पढ़ डालना चाहिए। जिससे इस विषय का और भी पूरा ज्ञान हो जाय।

भाषा, अलङ्कार और रस ।

अभीतक नाटक के जितने तत्वों का विवेचन हुआ, वे सब उसके अन्तर्तत्व हैं। अब उसके बहिर्तत्वों पर भी कुछ विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, अभीतक जितना भी विवेचन हुआ है वे भावों सम्बन्धी हैं, इसलिए अब संक्षिप्त में उसकी भाषा के सम्बन्ध में भी कुछ विचार करना आवश्यक है, नहीं तो विषय के अधूरे रह जाने का डर है। क्योंकि, भाषा और भाव का सम्बन्ध इतना गहरा है कि, ये एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। जो सम्बन्ध पुष्प और सुगन्ध का, लावण्य और सौन्दर्य्य का, जल और मछली का एवं देह और प्राण का है वही सम्बन्ध भाषा और भावों का है। जिस प्रकार पुष्प के बिना गन्ध, लावण्य के बिना सौन्दर्य्य, जल के बिना मछली एवं प्राण के बिना देह नहीं रह सकता, उसी प्रकार भाषा के बिना भाव कभी मूर्तिमान नहीं हो सकते। यद्यपि नाटक की मूल आत्मा विचार और भाव सम्पत्ति है, तथापि जहां तक

वह आत्मा भाषा रूपी शरीर में नहीं आ जाती वहां तक वह मनुष्य के अगोचर रहती है।

यद्यपि आत्मा शरीर की सहायता के बिना नहीं चल सकती, तथापि ज्योंही उसे शरीर मिल जाता है, त्योंही वह उसमें स्वतंत्र रूप से विचरण करने लग जाती है; जिस प्रकार शरीर की गति का अनुगमन नहीं करती, प्रत्युत शरीर का ही अपना अनुगामी बना लेती है, उसी प्रकार भाव यद्यपि भाषा के बिना मूर्त्तिमान नहीं हो सकते। पर ज्योंही भाषा रूपी शरीर उन्हें प्राप्त हो जाता है, त्योंही वे भाषा को अपनी अनुगामिनी बना लेते हैं। जो सजीव कविता है उसकी भाषा हमेशा भावों की अनुगामिनी रहती है। यदि भाव जलद्-गम्भीर हुए, तो निश्चय है कि, सुचारु लेखकों की-भाषा भी गम्भीर ही होगी। यदि भाषा भावों की कुछ भी परवाह न करती हुई स्वतंत्र विचरण करती है तो उस काव्य का सारा सौन्दर्य्य नष्ट हो जाता है। मान लीजिए कवि एक सुन्दर रमणी के कण्ठ का वर्णन कर रहा है तो उसका कर्त्तव्य होगा कि, भाषा के सौन्दर्य्य को अक्षय रखने के लिए वह उस समय कोमल से कोमल शब्दों की पदावलि रक्खे, यदि उन भावों को उसने कर्णकटु शब्दों में प्रयुक्त किया तो बहुत ही अस्वाभाविक एवं भद्दा मालूम होगा। इसी प्रकार यदि उसे नगाड़ों की ध्वनि एवं मेघ गर्जन का वर्णन करना है तो उस स्थान पर भाषा भी जलद्-गम्भीर रखना होगी। उनका वर्णन कोमल शब्दों में अच्छा नहीं मालूम होगा। भाषा के शब्द ऐसे होना चाहिए जिनके उच्चारण मात्र से ही हमें

उसके आधे भावों का पता लग जाय। कविवर पोप ने एक स्थान पर कहा है कि—

"It is not enough no harshness gives offence
The sound must seen an echo to the sense."

अर्थात् केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि, शब्दों में कर्ण कटुता न रहे। प्रत्युत शब्द ऐसे रहना चाहिए कि, उनके उच्चारण मात्र से ही अर्थ व्यञ्जित हो जाय। इसके लिये नाटककार को भाषा के सब अङ्गों, जैसे ध्वनि, वृत्ति, रस, अलंकार से परिचित हो जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भाषा में एक गुण और रहने की आवश्यकता है। गहरे भाव को सहज एवं सरल भाषा में बोधगम्य करवा देना यह गुण प्रत्येक उत्तम नाटककार में होना चाहिए। कई अच्छे २ विद्वान् भी किसी भाव को प्रकट करते समय इतनी जटिल भाषा का प्रयोग करते हैं कि, उसके लिए टीका तक की आवश्यकता होती है। कई लोग इस जटिलता को भी भाषा का एक गुण मानते हैं, पर वास्तव में देखा जाय तो यह कोई गुण नहीं है। व्यर्थ के समासों और फ़ज़ूल के अलङ्कारों में फँसा कर कई लोग भाषा को ऐसी उलझन में डाल देते हैं कि, ये भूषण ही उसके लिए दूषण हो उठते हैं।

महा कवि कालिदास की भाषा, भाषा तत्त्व के सब नियमों की दृष्टि से आदर्श है। उनकी भाषा सर्वत्र भावों की अनुगामिनी है,-सरल है, संक्षिप्त है एवं सहज ही बोधगम्य है। उन्होंने तो मानों भाषा और भावों को गलाकर एक सांचे में ढाल दिया है। उनके निर्वाचित शब्दों से उनके भाव केवल हृदयङ्गम ही

नहीं होते प्रत्युत हृदय में जाकर हमेशा के लिए अंकित हो जाते हैं। उनके सजीव शब्द भावों की मूर्ति बनाकर हमारे सम्मुख उपस्थित कर देते हैं—

केय मव गुण्ठन वती नाति परिस्फुट शरीर लावण्या
मध्ये तपाधनानां किसलमिव पाण्डु पत्राणं।

(यह अवगुण्ठनवती स्त्री कौन है, जिसका लावण्य पूर्ण परिस्फुट नहीं है । इन मुनियों के बीच में यह वैसी ही जान पड़ती है जैसे पीले पत्तों के बीच में कोई नई कोंपल हो)

कितनी कोमल पदावलि है ? एवं कितनी सरल शब्द रचना है ? इसी प्रकार

वसने परिधूसरे वसानां नियम क्षाम मुखि धृतैक वेणि
करुणस्य शुद्ध शीला ममदीर्घ विरह व्रतं बिभर्ति ।

(यह इस समय मलिन वेष को धारण किये हुए है, कठिन विरह यंत्रणा से इसका मुख सूख गया है, मस्तक पर केवल एक ही चोटी पड़ी हुई है, इस शुद्ध शीला ने मुझ निष्ठुर हृदय का बहुत लम्बा विरहवृत्त धारण कर रक्खा है ।]

श्लोक को पढ़ते ही हमारे सम्मुख एक विरह विदग्धा, सताई हुई तपस्विनी की मलिन मूर्ति आकर उपस्थित हो जाती है ।]

नाटकीय भाषा में और एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है । वह यह कि, भाषा हमेशा पात्र के अनुरूप हो । यदि पात्र अशिक्षित है, या कम पढ़ा हुआ है तो उसके मुख से वैसी ही भाषा कहलाना चाहिये । एवं यदि उसकी-मातृ भाषा कोई दूसरी है तो उसके मुख से उसकी मातृ-भाषा ही कहलाना चाहिए ।

स्वयं कालिदास ने ऊँचे दर्जे के शिक्षित पुरुषों के मुख से शुद्ध संस्कृत, एवं स्त्री पात्रों और साधारण मनुष्यों के मुख से प्राकृत भाषा का व्यवहार करवाया है। आजकल के नाटकों में भी हिन्दू पात्र के मुख से हिन्दी, और मुसलमान पात्र के मुख से प्रायः उर्दू कहलाई जाती है, यह नियम सङ्गत है और स्वाभाविक भी। पर कभी उसके पालन में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है, कभी २ ऐसे पात्रों को भी स्टेज पर लाना होता है, जिनकी मातृ भाषा को दर्शकगण बिलकुल नहीं समझ सकते। ऐसे समय में यदि इस नियम को टाल भी दिया जाय तो कोई अनुचित न होगा।

आजकल हिन्दी के नाटकों, की भाषा में एक और विशेषता नज़र आती है, वह यह कि, उसमें व्याकरण के इस नियम की कि, क्रिया पद के अन्त में रहना चाहिए परवाह नहीं की जाती। हमारी समझ में यह अंग्रेज़ी अनुकरण का फल है। पर इससे कोई हानि नहीं, उलटे इससे भाषा में एक प्रकार का उत्साह मालूम होता है।

शब्दों की सामान्यता, एवं प्रचलितता पर ध्यान देना भी नाटक में अत्यन्त आवश्यक है। शब्द जितना ही सामान्य एवं प्रचलित होगा, भाव उतने ही जोरदार रूप से प्रकट होंगे। उदाहरणार्थ हम द्विजेन्द्र बाबू के दुर्गादास नाटक के हिन्दी अनुवाद का कुछ अंश उद्धृत करते हैं।

" दिलेरख़ां-मालूम नहीं जहांपनाह ! लेकिन जब वह औरत मुग़लों की फ़ौज के आगे आकर खड़ी हो गई-उसका मुँह खुला हुआ था, बाल बिखरे हुए थे, छाती से लगी हुई लड़की सो रही थी-तब महारानी की ढाई सौ फ़ौज ढाई लाख

जान पड़ने लगी। मुग़लों की फ़ौज की काली घटा के ऊपर से बिजली की तरह रानी निकल गई उसे छूने की किसी को हिम्मत तक न हुई।

औरंग—और तुम ?

दिलेर—मैंने दूर दर खड़े २ मां की वह अजीब मूर्ति देखी, कहना चाहा क, "पकड़ो जसवन्त को रानी को," मगर मुँह से आवाज नहीं निकली। तरवार निकालनी चाही, तरवार न उठी, पिस्तौल ली, पिस्तौल हाथ से गिर पड़ी ....जहांपनाह ! देखा वह एक निराली ही झलक थी। उस पाकदामिनी शान और बहादुरी के रोब में जैसे जादू भरा था। जहांपनाह ! तअज्जुब ! बाल बिखरे, छाती पर सोती हुई लड़की लिए-रानी बेधड़क हमारी फौज के आगे आकर खड़ी हो गई। क्या कहूँ, जहांपनाह ? कैसा वह नज़ारा था ? वह मां की सूरत सुबह सादिक से भी साफ, बीना की आवाज़ से भी सुरीली, और खुदा के नाम से भी पाक़ थी। जैसे का तैसा खड़ा रहा-मुझ से कुछ भी करते न बना।"

बिलकुल साधारण बोल चाल के उर्दू शब्द हैं। मगर कितने सजीव हैं। सचमुच इन शब्दों को पढ़ते ही हमारी आँखों के सामने सुबह सादिक़ से भी साफ़, बीन की आवाज़ से भी सुरीली और खुदा के नाम से भी पाक़ मां की वह मूर्ति आकर उपस्थित हो जाती है।

क्लिष्ट शब्दों का वर्णन नाटक की सजीवता को नष्ट कर देता है। उनसे लेखक के पाण्डित्य का परिचय भले ही मिले, पर नाटक का सौन्दर्य्य तो बहुत घट जाता है। इस प्रकार की भाषा वाले नाटक सर्व साधारण के उपयोगी नहीं रहते।

उदाहरणार्थ उपरोक्त लेखक के ही लिखे हुए पाषाणी नाटक के हिन्दी अनुवाद से हम कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं—

इन्द्र—अनिन्द्य सुन्दरी! मेरी हृदयेश्वरी! नन्दन कानन में किशोर मन्दार-पुष्प वसन्त वायु से सञ्चालित इतनी सुगन्ध नहीं देता जितनी सुगन्ध तुम्हारी अस्फुट प्रणय वाणी से मिली हुई सांस में मिलती है।

इसमें सन्देह नहीं कि, लालित्य की दृष्टि से यह वाक्य अच्छा है, पर सरलता न होने से यह सर्वसाधारण के किसी काम का नहीं, इसकी उपमाएं और समास भी बहुत क्लिष्ट हैं। लम्बा भी इतना है कि, बोलते २ जी घबरा उठे। इस प्रकार के वाक्य नाटकीय भाषा में अच्छे नहीं लगते।

इतने विवेचन से सिद्ध हुआ कि, नाटकीय भाषा में निम्नाङ्कित गुणों का होना आवश्यक है [१] भाषा सर्वत्र भावों की अनुगामिनी हो [२] सरल एवं सहज बोधगम्य हो [३] समास, अलङ्कार आदि की व्यर्थ उलझन में उलझी हुई न हो। अर्थात् समास अलङ्कार आदि आवश्यकता से अधिक न हो। [४] पात्रों के अनुरूप हो [५] सरल, जोशीली, भावों को और मूर्त्तिमान करने वाली हो। वाक्य छोटे हों, जिन्हें हम एक सांस में सुखपूर्वक पढ़ जांय।

अलङ्कार

अब हम भाषा के मुख्य सौन्दर्य्य अलङ्कारों के विषय में कुछ विचार करना उचित समझते हैं। अलङ्कार के मुख्य भेद दो हैं। शब्दालंकार और अर्थालङ्कार। इनके फिर क्रमशः आठ और सौ उत्तर भेद हैं। लेकिन नाटक में मुख्यतः शब्दालङ्कारों में से

अनुप्रास, और अर्थालङ्कारों में से उपमा को ही अधिक व्यवहार होता है।

अनुप्रास को अंग्रेजी में "Rhyme" और उर्दू में "तुक" या "काफ़िया" कहते हैं। शब्द लालित्य की दृष्टि से काव्य में इसकी आवश्यकता रहती है। एक ही ध्वनि का काव्य में बराबर आना बड़ा ही मधुर मालूम पड़ता है। जैसे शेक्सपियर की निम्नाङ्कित कविता है

"Begot by bather by bishop bred
How high his highness holds his haughty head

[B] और [H] की कितनी सुन्दर पुनरावृति है। इसी प्रकार

"लोनी लोनी सकल लति का वायु में मन्द डोलीं।
प्यारी प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं।
सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
कुञ्जों कुँजो, कुसुमित-बनों क्यारियों ज्योति फैलीं।

[प्रिय प्रवास]

× × × × ×

नभलाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रतिवाली आली अनन्त आये वनमालीन।

[विहारी]

कितना सुन्दर मालूम होता है। मानो सुन्दर २ शब्दों की लड़ियां ही रख दी हैं। अनुप्रास रखते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि, जो शब्द बार २ आनेवाला है उसकी ध्वनि मधुर हो। कटु शब्दों की पुनरावृत्ति खराब मालूम होती है।

अनुप्रास केवल भाषा के बाह्याङ्ग को सजाने का साधन है। भाषा के अन्तरङ्ग को सजाने का मुख्य साधन उपमा है। उपमा यदि सुन्दर हो एवं उसका प्रयोग उचित स्थान पर किया गया हो तो वह अवश्य काव्य की सुन्दरता और वर्णन की उज्वलता को बढ़ाती है। लेकिन उपमान और उपमेय ये दोनों वस्तुएं ऐसी होना चाहिए जो बिलकुल एक दूसरे के अनुरूप हों।

यह निर्णय करना बड़ा ही कठिन है कि, किस वस्तु के साथ किसकी उपमा देना चाहिए। यों तो प्राचीन काल से ही बहुत सी उपमाएं पद्धति रूप से चली आती हैं, पर बार २ उन्हीं का प्रयोग करने से पढ़ने वाले का जी मिचला जाता है। इस लिए कम से कम विद्वान लेखकों का तो यह कर्तव्य है कि, वे नई उपमाओं की सृष्टि किया करें।

अलङ्कार शास्त्र की दृष्टि से तो उपमा के कई भेद हैं। पर नाट्यशास्त्र के साथ उनका विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। नाट्यशास्त्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आधुनिक लेखकों ने उपमा को तीन भागों में विभक्त कर दिया है:—

(१) वस्तु के साथ वस्तु की उपमा अथवा गुण के साथ गुण की उपमा जैसे कमल के समान नेत्र, अथवा विश्वास के समान स्वच्छ:—

(२) गुण के साथ वस्तु की उपमा-जैसे कर्तव्य, वज्र के समान कठोर, जुही के समान सुन्दर, और नवजात शिशु के हृदय के समान पवित्र है:—

(३) वस्तु के साथ गुण की उपमा—जैसे नेत्रों के समान चञ्चल, मन के समान वेगगामी आदि।

नाटक में तीनों ही प्रकार की उपमाएं प्रयोजनीय रहती

हैं। पर वस्तु के साथ गुण की उपमा हमारी समझ में अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस उपमा के द्वारा अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का सामञ्जस्य दिखाया जा सकता है।

इस स्थान पर पाठकों के सुभीते के लिये उपमाओं के कुछ उदाहरण अङ्कित कर देना असङ्गत न होगा।

"वह मेरी शुरू जवानी मेहर! शुरू जवानी थी। जब आकाश बहुत ही नीला देख पड़ता था। पृथ्वी बहुत ही हरी भरी जान पड़ती थी; जब ये नक्षत्र वासना की चिनगारियों जैसे, और गुलाब के फूल हृदय के रक्त की तरह जान पड़ते थे। जब कोकिल का गान एक स्मृति का सा, और मलय पवन एक स्वप्न सा जान पड़ता था। जब प्रणयी का दर्शन उषा का उदय, चुम्बन सजल बिजली की चमक, और आलिंगन आत्मा का प्रलय जान पड़ता था।

(नूरजहां)

× × × ×

कैसा अपूर्व सौन्दर्य्य है! भयानक अन्धेरी रात में वीणा की मधुर झङ्कार की तरह, स्वच्छ नील नभोमण्डल में उज्वल उषा की तरह यह कैसा सौन्दर्य्य है लहरें लेते हुए प्रशान्त महासागर में प्रातः कालीन सूर्य्य किरणों की तरह स्थिर और चञ्चल, गंगा के जल में पड़ते हुए पूर्ण चन्द्र के बिम्ब की तरह सौम्य और सुन्दर यह कैसी ज्योति है।

(सिद्धार्थ कुमार)

× × × ×

कैसा भोला मुख है। बालक की हंसी से भी अधिक मोहक, इन्द्र धनुष से भी अधिक रम्य और प्रेमी के सुख मय

स्वप्न से भी अधिक मधुर, यह कैसा सौन्दर्य्य है।

(अशोक)

× × × ×

उपमा के अतिरिक्त नाटक में उत्प्रेक्षा, रूपक, न्याजस्तुति अतिशयोक्ति आदि सभी अलङ्कार रहते हैं, पर मोटी निगाह से इनकी गणना भी उपमा में ही कर ली जाती है।

रसों का विवेचन।

अलङ्कारों की ही तरह नाटक में रसों पर ध्यान देना आवश्यक है। अलङ्कार शास्त्र में रसों के नौ भेद किये गये हैं। शृंगार, वीर, करुणा, हास्य, रौद्र भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। नाटक में भी इन नौ ही रसों की आवश्यकता रहती है। प्रधान रूप से तो उसमें एक, दो या तीन ही रस रहते हैं, पर पार्श्ववर्ती ढङ्ग से उसमें प्रायः सभी रसों का समावेश हो जाया करता है। यद्यपि बुद्धदेव के नाटक में करुणा और शान्त प्रतापसिंह के नाटक में वीर, अद्भुत और रौद्र और चन्द्रावली के नाटक में शृंगार रस ही प्रधान रूप से रहते हैं। तथापि कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में इनमें सभी रस आ जाते हैं।

काव्य में सब से पहले शृंगार रस का ही नाम आता है। एवं हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने भी इसे सर्व प्रधान माना है। नाट्यकला की दृष्टि से भी यह रस प्रधान है। क्यों? इसके कारणों पर संक्षिप्त में आगे विचार किया जाता है।

शृंगार रस किसे कहना चाहिये? हमारी समझ में कोमल पदावलि में सौन्दर्य्य का वर्णन कर देना, इसे ही शृंगार रस

कहना चाहिये। यदि यह परिभाषा ठीक है, तो अब हमें यह देखना होगा कि, मनुष्य प्रकृति के साथ इस रस का क्या सम्बन्ध है। इसकी खोज मनोविज्ञान के सूक्ष्म तत्वों में करना होगी। मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त यह भी है कि, मनुष्य प्रकृति स्वभावतयः ही सौन्दर्य्य प्रेमी हुआ करती है। जब मनुष्य प्रकृति और सौन्दर्य्य में इतना सामञ्जस्य है तो यह निश्चय है सौन्दर्य्य प्राण शृंगार रस का भी उससे बहुत अधिक सम्बन्ध है।

वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य का सारा जीवन ही शृंगार मय हुआ करता है। प्राचीन काल में जब हमारी सभ्यता ऊँचे शिखर पर पहुंची हुई थी—हमारे पूर्वजों ने मनुष्य जीवन को चार भागों में विभक्त किया था। [१] ब्रह्मचर्य्याश्रम [२] गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम [४] सन्यासाश्रम। अब हम यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो मनुष्य जीवन के इन चारों भागों को शृंगार मय ही पाएंगे। प्रारम्भ में ही ब्रह्मचर्य्याश्रम में जब मनुष्य जंगलों में शिक्षा पाने के लिये जाता है, तो उसे वाह्यप्रकृति के नाना प्रकार के सौन्दर्य्य मय दृश्य देखने को मिलते हैं। प्रकृति के विशाल वक्ष स्थल पर विचरण करते हुए लम्बे २ विशाल हरे भरे मैदानों को देख कर अथवा पहाड़ों के बीच में बहते हुए झरनों के बीच से झरने के मधुर कल २ नाद को सुन कर उसके हृदय में स्वाभाविक तयः ही कुछ कोमल भावों का उद्रेक होता है, बस, उन्हीं कोमल भावों से शृंगार रस का जन्म होता है। इस प्रकार प्रकृति के नाना प्रकार के दृश्यों को देखते २ वह शृंगार रस में ओत प्रोत होकर ब्रह्मचर्य्याश्रम की अवधि को खतम करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। यहां पर उसे मनुष्य

के अन्तर्जगत् का सौन्दर्य्य देखने को मिलता है, यहां पर मिलता है उसे माता का स्नेह, भक्त की भक्ति, रमणी का प्रेम और मनुष्य की अनुकम्पा। प्रकृति के जगत् से जो कुछ श्रृंगार रस वह संग्रह करके लाता है, उस का गृहस्थाश्रम में विकास होता है, वह विकास रमणी प्रेम के रूप में होता है। उसके पश्चात् जब वह वानप्रस्थ हो जाता है, तब उस प्रेम का और भी अधिक विकास होता है, वह बिकास विश्वप्रेम के रूप में होता है, उसके पश्चात् सन्यासाश्रम में उस प्रेम का और भी अधिक विकास होता है। प्रकृति प्रेम, रमणी प्रेम, और विश्वप्रेम यह सब आत्मप्रेम के रूप में बदल जाते हैं। यह श्रृंगार की सब से ऊँची सीढ़ी होती है। इस ऊंचे श्रृंगार रस में ओत प्रोत होकर वह तमाम संसार को परमात्म-सौन्दर्य्य से परिपूरित पाता है। बस यही आत्मा के विकास की सीमा है, और यहीं पर श्रृंगार का पूर्ण विकास है। कुछ लोग सन्यासाश्रम के श्रृंगार रस को "वैराग्यरस" भी कहते हैं, पर हमारी समझ वैराग्य भी श्रृंगार का एक विकसित रूप ही है।

इससे निर्द्धारित होता है कि श्रृंगार रस का मनुष्य जीवन से घना सम्बन्ध है, जब यह बात सिद्ध हो चुकी, तब यह स्वयं सिद्ध है कि जिस नाटय-कला का विकास ही मनुष्य जीवन में होता है, उसमें भी श्रृंगार रस प्रधान होना चाहिए।

यह तो हमने आदर्श श्रृंगार रस का विवेचन कर दिया। अब हमें उस श्रृंगार रस पर भी कुछ विवेचन कर देना आवश्यक है जिसे आज कल के कवि अपने काव्यों में स्थान देते हैं। और भाषा के कवि की तो बात नहीं कही जा सकती, पर ब्रज-भाषा के कवियों में तो प्रायः यह प्रथासी चल पड़ी थी कि, श्रृंगार का वर्णन करते समय वे चट किसी कामिनी की कल्पना

करके उसके अङ्गप्रत्यङ्गों का वर्णन कर डालते हैं। और ऐसे भद्दे ढङ्ग से वह वर्णन किया जाता था कि, उसे बतलाते हुए लेखनी को शर्म मालूम होती है। इस बात को हम मानते हैं कि, रमणी प्रेम का वर्णन करते समय रमणी के सौन्दर्य्य का वर्णन करना आवश्यक है। पर वह सौन्दर्य्य वर्णन ऐसा होना चाहिए जिसमें अश्लीलता न हो। शृंगार में प्रेम का चित्र रहता है, न कि, काम वासना का। और अश्लीलता काम वासना का धर्म है, न कि, प्रेम का। सौन्दर्य्य वर्णन इतना सभ्य होना चाहिए जिससे उसके-(जिसका सौन्दर्य्य वर्णन किया जाय) प्रति प्रेम का उदय हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, गृहस्थाश्रम में रमणी प्रेम का एक अङ्ग काम-वासना भी रहता है। पर वह वासना धर्म और प्रेम के शासन से शासित रहती है, उसमें उच्छृंखलता नहीं रहती। इसलिये शृंगार रस का वर्णन ऐसा होना चाहिए जिसके पढ़ने से पाठकों के हृदय में रमणी प्रेम का वास्तविक रूप से उदय हो। सौन्दर्य्य का नग्न रूप दिखा कर वासना का उदय करना शृंगार रस का उद्देश्य नहीं होता। बल्कि, रमणी के सौन्दर्य्य का उज्वल वर्णन करके उस प्रेम की शिक्षा देना ही शृंगार-रस का उद्देश्य होता है। व्रजभाषा में हम कई पद्य ऐसे पाते हैं, जिसमें सौन्दर्य्य का नग्न रूप अश्लील ढङ्ग से बतलाया गया है। उसको पढ़ने से कुत्सित भावों का उदय होना अवश्य-म्भावी है यद्यपि यहांपर लिखना असङ्गत होगा, तथापि पाठकों की जानकारी के निमित्त उसी ढङ्ग का एक पद्य उद्धृत कर देना हम उचित समझते हैं—

उठि आयुहि आसन दे रस प्यार सों,

लाल सों आंगी कढ़ावति हैं।

पुनि उंचे उरोजन दै उर बीच हैं,
भुजनि भढ़े औ मढ़ावति हैं।
रस रंग मचाई नचाइ के नैनहिं,
अङ्ग तरङ्ग बढ़ावति हैं।
विपरीत की रीति में प्रौढ़ति का,
चित चौगुनो चोप चढावति हैं।

यह भी कोई श्रृंगार रस है ? इस प्रकार के प्रकृति-विरुद्ध गन्दे विचारों के फ़ैलाने को भी यदि रस कहते हैं, तो ऐसे रस को हमें दूर से ही नमस्कार करना चाहिए। ऐसे सैकड़ों पद्य ब्रजभाषा में भरे हुए पड़े हैं, जो इसीप्रकार के भ्रष्ट और कुरुचि को बढ़ाने वाले हैं। हम ऐसे पद्यों को कभी श्रृंगार रस मय नहीं समझते। हमने जिस श्रृंगार रस का मनुष्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध बतलाया है, उस श्रृंगार की परिभाषा हम ऊपर कर चुके हैं, दूसरे शब्दों में हम उस श्रृंगार रस की परिभाषा निम्न स्वरूप से कर सकते हैं—

"प्रेम के चित्र को कोमल ध्वनि के शब्दों में प्रगट करने को श्रृंगार रस कहते हैं। फिर यह प्रेम, प्रकृति प्रेम, रमणीप्रेम विश्वप्रेम और परमात्म-प्रेम इन में से कोई भी क्यों न हो।"

श्रृंगार रस के वर्णन करने में कालिदास अद्वितीय है उन्होने बहुत ही उत्कृष्ट ढङ्ग से इसका वर्णन किया है। यद्यपि कहीं २ पर उनमें अश्लीलता अवश्य आ गई है पर उसके साथ ही साथ उस पर कर्तव्य की दृष्टि लगी हुई है। देखिये शकुन्तला को देखने पर दुष्यन्त के हृदय में जिन भावों का उदय हुआ, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—

सरसिज मनुविद्धं शैव लेनापि रम्यं ।
मलिन मपि हिमांशोर्लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी ।
किमिव हि मधुराणां मण्डनं ना कृति नाम्।

अर्थात्-जैसे कमल का फूल सेवार से ढका हुआ होने पर भी रम्य मालूम होता है, और चन्द्रमण्डल का चिन्ह काला होने पर भी उसकी शोभा को बढ़ाता है, उसी प्रकार यह सुन्दरी वल्कल वस्त्र से ढकी रहने पर भी अत्यन्त मनोहर जान पड़ती है। क्योंकि मधुर आकृति वालों के लिए कुरूप वस्तुएँ भी अलङ्कार हो जाती हैं।

अवश्य इसमें वासना की एक झन्कार मालूम होती है, पर साथ ही देखिए आगे चल कर राजा क्या सोचते हैं। वे उस बाला पर मुग्ध हैं, पर वे उसे कामवासना के वशीभूत होकर भ्रष्ट नहीं किया चाहते। वे उसे विवाह-कर्त्तव्य के बन्धन में बांधा चाहते हैं। वे उसकी जाति, कुल आदि की बात को जान कर यह जानना चाहते हैं कि, वह रमणी उनके स्पर्श करने के लायक है या नहीं। फिर जब उन्हें मालूम पड़ जाता है कि मेनका के गर्भ से इसका जन्म है तो प्रसन्न होकर कहते हैं—

"आशङ्क से यदग्नि तदियं स्पर्श क्षमं रत्नम्।"

अरे मन! जिसे तू अग्नि जान कर शङ्का करता था, वह तो स्पर्श करने योग्य रत्न है।

इसी को वास्तविक श्रृंगार कहते हैं। जिस वासना पर कर्त्तव्य का बन्धन रहता है, वह भी एक प्रकार का प्रेम है, उसका चित्रण श्रृंगार रस का एक अङ्ग है, यदि जाति पांति का विचार किये बिना एकदम वे उस बाला पर अनुरक्त होकर उसे धर्म भ्रष्ट कर डालते तो वह श्रृंगार भ्रष्ट हो जाता।

इस प्रकार के शृंगार रस का क्या काव्य में और क्या नाटक में सभी स्थानों पर प्राधान्य रहता है—

वीर रस।

शृंगार रस के पश्चात् काव्य में वीर रस का नम्बर आता है। वीरता मनुष्य का एक स्वाभाविक धर्म है। मनुष्य चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का क्यों न हो, उसमें वीरता का कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य मौजूद रहता है। किसी दुर्बल पर होते हुए अत्याचार को देखकर, अथवा हमारे स्वयं के ऊपर किसी को आक्रमण करते हुए देखकर, हमारे हृदय में स्वाभाविक रूप से जिस क्रोध वृत्ति का उदय होता है उसीसे वीर रस का जन्म है। जब हमारे पर, हमारे कुटुम्ब पर हमारी जाति पर अथवा हमारे देश पर किसी आततायी के अत्याचार होते हैं, उस समय स्वाभाविक रूप से हमारे अन्दर आत्मरक्षा का एक प्रबल भाव जागृत हो जाता है, जिसके कारण हमारे होंठ फड़कने लगते हैं, भुजाएं क्रन्दन करने लगती हैं, एवं हृदय से उस आततायी के विरुद्ध एक आन्दोलन खड़ा हो जाता है। इसी को काव्य की भाषा में वीर रस कहते हैं। यह भी मनुष्य प्रकृति का एक स्वाभाविक धर्म है, इस कारण काव्यों और नाटकों में यह सदा से चला आता है, नाटक में भी इस का आसन प्रधान है।

करुणा रस।

"करुणा" मनुष्य हृदय का स्वाभाविक धर्म नहीं, प्रत्युत एक गुण है। "गुण" इसलिये कहा जाता है कि, यह सब मनुष्यों में समान रूप से नहीं पाया जाता। कई नरपिशाच ऐसे

भी होते हैं जिनके हृदय में कभी करुणा का उदय भी न्हीं होगा। लेकिन साधारणतयः सामान्य मनुष्यों में करुणा का यह तत्त्व सर्वत्र पाया जाता है। फिर भी इसे धर्म की अपेक्षा गुण कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। किसी भी दुःखी के दुःख को, पापी के पाप को, वियोगी के वियोग का अथवा युवती रमणी के वैधव्य को देखकर हमारे हृदय में स्वाभाविकतयः एक प्रकार की करुणा का आक्रोश होता है और आंखों से आंसू बहने लग जाते हैं। बस, यहीं से करुणा का जन्म है। यह करुणा नाटकों में दो प्रकार से उत्पन्न कराई जाती है। एक करुणा तो "हाय बेचारे! हाय मैय्यारे! मरा रे! आदि रोने पीटने से उत्पन्न कराई जाती है! इससे करुणा का उद्रेक कुछ अवश्य हो जाता है, पर इस प्रकार की करुणा का आसन साहित्यिक दृष्टि से बहुत नीचा है। इस में कवि के कौशल का बिलकुल परिचय नहीं मिलता। लेकिन एक दूसरी प्रकार की करुणा और होती है, जो कर्तव्य और प्रेम, आनन्द और वेदना, उपकार और कृतघ्नता, आदि विपरीत प्रवृत्तियों के संघर्ष से उत्पन्न करवाई जाती है। यह करुणा बहुत ही उत्कृष्ट श्रेणी की होती है।

दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के सामञ्जस्य की रक्षा करके हृदय में करुणा का झरना बहा देना एवं दोनों प्रकार के सौन्दर्य्य को एक स्थान पर इकट्ठा कर हृदय को रुला देना ही, उत्कृष्ट श्रेणी का करुणा रस है। कालिदास ने शकुन्तला नाटक में शकुन्तला की विदाई के समय कण्व ऋषि के हृदय का जो चित्रण किया है, सचमुच वह अपूर्व है।

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्ट मुत्कंठया।
अन्तर्बाष्प भरोपरोधि,गदितं चिन्ताजडं दर्शनम्।

वैक्लव्यं मम तावदीदृश मपि स्नेहादरण्यौ कसः ।
पड्यिन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेष दुःखैर्नवैः ।

(आज शकुन्तला पति गृह को जा रही है, मेरा हृदय उत्कण्ठित हो रहा है हृदय के आवश से कण्ठावरोध हो रहा है। नेत्र चिन्ता से जड़ तुल्य हो रहे हैं । जब मुझ निर्मम वनवासी तापस की स्नेह वश यह हालत हो रही है। तब साधारण मनुष्य लोग कन्या वियोग के नवीन दुख से क्यों न दुःखित होते होंगे। इसके पश्चात् वे अपने शिष्यों स कहते हैं- " वत्सो तुम अपनी बहन को मार्ग दिखलाओ।' इसके पश्चात् हृदय के आवेग को प्रकाशित करते हुए वे तपोवन के वृक्षों से कहते हैं—

भो भोः सन्निहित वन देवता स्तपोवनतरवः—
पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्व पीतेषु या,
ना दत्ते प्रिय मण्डनाऽपि भवतां स्नेहन या पल्लवम्
आद्ये वः कुसुम प्रवृति समये यस्या भवत्युत्सवाः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनु ज्ञायताम् ॥

(" हे वन देवताओं के निवास स्थान तपोवन के वृक्षों ! तुम्हें जल पिलाए बिना जो कभी पानी न पीती थी, पत्तों के आभूषण प्रिय होने पर भी स्नेह के मारे तुम्हारे नवीन पत्तों को भी कभी नहीं तोड़ती थी। और तुम्हारे फूलने के समय जिसे अपार आनन्द होता था, वही शकुन्तला आज पति गृह को जा रही है, तुम उसे आज्ञा दो।,,)

अन्त में जब शकुन्तला कण्व की गोद में सिर रख कर रोती हुई कहती है कि, "मैं तुम्हारी गोद से अलग होकर मलय पर्वत पर से उखाड़ी गई, वन लता की भांति कैसे जीवन धारण

करूंगी' उस समय तो कण्व से शोक का वेग नहीं रोका गया। वे शोकाभि भूत होकर बोले।

वत्से मामेवं जड़ी करोषि,

अपपास्यति मे शोकं कथंतु वत्स त्वया रचित पूर्व म्
उटज द्वार विरूढं नीवार बलिं विलोकयत।

(वत्से! तू मुझे इस प्रकार जड़ी भूत बना रही है पर्ण-शाला के द्वार पर तू ने जो नीवार बलिप्रदान की थी उसके निकले हुए अङ्कुरों को जब मैं देखूँगा, तब यह शोक कैसे दूर होगा।)

कर्तव्य और स्नेह के इस भयङ्कर युद्ध के बीच में से कवि ने जो एक करुणा रस का एक सोता बहा दिया है, वह दुनिया के साहित्य में अपूर्व है। कर्तव्य कहता है कि तुम तपस्वी हो मोह में मत पड़ो मगर हृदय स्नेह की रास को छोड़ देता है। सचमुच इस दृश्य को देख कर आंखों से आंसू बहाने लग जाते हैं। ये शब्द केवल बाहरी दृश्य में ही आंसू बहाकर नहीं रह जाते, प्रत्युत अन्तर्हृदय में जाकर हल चल मचा देते हैं।

उत्तम नाटकों में इसी प्रकार का करुण रस आपेक्ष्य रहता है।

हास्य रस।

शृंगार, वीर और करुण की भांति "हास्य रस" भी नाटक का एक प्रधान रस है। महा काव्य, उपन्यास वगैरह में यदि यह न भी हो तो कार्य्य चल सकता है। पर नाटक "दृश्य काव्य" है, पांच, छः घण्टे तक उसमें दर्शकों को एक आसन पर बैठा रहना पड़ता है, यदि उसके बीच में उन्हें मनोरंजन

की सामग्री न मिली तो निश्चय है कि, वे उकता जायँगे। मनोरंजन से उनके उकताए हुए चित्त को बहुत कुछ शान्ति मिल सकती है, क्योंकि, मनुष्य प्रकृति स्वभाव से ही मनोरंजन प्रिय हुआ करती है। बल्कि कई दर्शक तो केवल मनोरंजन के निमित्त ही नाटक देखने जाया करते हैं।

नाटकोत्पत्ति के प्रारम्भ में ही, बल्कि बहुत कुछ विकास हो जाने पर भी नाटककारों के दिल में हास्य रस की अवतारणा करने की कल्पना का उदय न हुआ था। वे केवल गम्भीर विषयों के आयोजन में लीन रहा करते थे; सब से पहले एशिया के अन्दर कालिदास के हृदय में, और यूरोप के अन्दर एरिस्टोफेनिस के हृदय में इस कल्पना का आविर्भाव हुआ। उन्होंने मनुष्यों की इस मनोरन्जन-प्रिय प्रवृत्ति को समझा, और अपने काव्यों में हास्य रस की जरूरत को महसूस किया। उसके पश्चात् शेक्सपियर ने इस रस का बहुत अधिक विकास किया, उनके प्रायः प्रत्येक नाटक में हास्य रस की पराकाष्ठा दिखलाई पड़ती है। पीछे से हमारे भारतीय नाटककारों ने भी अपने नाटकों में इस रस की अवतारणा की और अब तो कोई भी नाटककार हास्य रस की अवहेलना कर ही नहीं सकता। बिना हास्य रस की अवतारणा के नाटक ही अधूरा समझा जाता है।

हास्य रस के भी उसके विषयानुसार दो भेद किये जा सकते हैं। साधारण हास्य और (२) मिश्र हास्य। मनुष्य की मानसिक दुर्बलताओं की असङ्गति दिखाकर हास्य रस का उद्रेक करने से उस कमजोरी पर जो आक्रोश होता है उसके प्रति व्यंगपूर्ण सहानुभूति दिखलाने से एक प्रकार के मृदु

परिहास की सृष्टि होती है, उसे साधारण हास्य कहते हैं। कालिदास, शेक्सपियर आदि सभी लेखकों ने इस प्रकार के हास्य की अवतारणा की है। लेकिन दूसरी श्रेणी का हास्य इससे भी उत्कृष्ट श्रेणी का होता है। करुणा, शान्त, रौद्र आदि रसों के साथ हास्य रस को मिलने से जो हंसी उत्पन्न होती है उसे मिश्र हास्य कहते हैं। जो हास्य एक साथ मुख पर हंसी, और आंखों में आंसू उत्पन्न करवा देता है, अथवा जिस हास्य रस के अभिनय को देखकर दर्शक एक साथ हंस और रो उठते हैं, वह हास्य बहुत ही उत्कृष्ट होता है।

द्विजेन्द्रलाल राय रचित शाहजहां नाटक में "दिलदार" और "पियारा" का सिंहल विजय में बालक वेषधारी "लीला" का और "उस पार" में "भवानीप्रसाद" का हास्य इसी ढङ्ग का है। बङ्किम बाबू लिखित "चौवे का चिट्ठा" और "लोक रहस्य" भी इसी प्रकार के हास्य रस से ओत प्रोत हैं।

इसी प्रकार हास्य रस की प्रत्येक नाटक में प्रधान रूप से आवश्यकता रहती है।

शान्त रस।

श्रृंगार और करुणा रस के साथ शान्त रस का बहुत अधिक सम्बन्ध है। जहां पर श्रृंगार रस रहता है, वहां पर विरह के दृश्य अवश्य पाये जाते हैं, वास्तव में देखा जाय तो विरह में ही श्रृंगार का पूर्ण विकास होता है। [यहां तक कि आत्म-प्रेम के उच्च श्रृंगार का भी विरह में ही अधिक विकास होता है। एक मस्त फ़कीर का कथन है कि "तेरी तलाश तेरे न मिलने का सबूत है, मगर वह तेरे मिलने से भी बढ़ कर रस

प्रकाशक है) और जहां पर विरह रहता है, वहां पर अवश्यमेव करुणा रस का श्रोत बहता रहता है, और उसी करुणा के श्रोत से शान्ति का उदय होता है । इसलिये शृंगार, करुणा और शान्त रस ये तीनों एक ही शाखा के तीन फूल कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ शकुन्तला नाटक को ही लीजिये। यह नाटक शृंगार रस प्रधान है, मगर उसमें करुणा और शान्ति रस के बहुत ही उज्वल दृश्य स्थान २ पर मिलते हैं। शृङ्गार और करुणा रस के कुछ दृश्य पहले बतलाए जा चुके हैं। अब शान्ति रस का भी एकाध दृश्य देखिए।

हम ऊपर कह आए हैं कि, पहले पहल शृंगार का उसके पश्चात् करुणा का और अन्त में शान्तिरस का उदय होता है। आप देखेंगे कि, शकुन्तला में भी यही नियम काम कर रहा है। पहले से तीसरे अङ्क तक शृङ्गार, चौथे में करुणा और छठे सातवें में शान्त रस के दृश्य उसमें ग्रथित हैं।

शकुन्तला नाटक का सातवां अङ्क देखिए, आप देखेंगे कि, काश्यप के आश्रम से कुछ ही दूरी पर शकुन्तला का पुत्र सर्व-दमन एक सिंह के बच्चे से खेल रहा है। दो तपस्यनियें उसे इसके लिए मना कर रही हैं, मगर वह उनकी परवाह नहीं करता। निकट ही खड़े हुए दुष्यन्त मुग्ध विस्मय के साथ उसे देख रहे हैं। वे सोच रहे हैं—

आलस्य दन्त मुकुलात निमित्त हासै।
रक्तव्य वर्ण रमणीय वचः प्रवृत्तीन ।
अंकाश्रय प्रणयिन स्तन यान्व इन्वो।
धन्यास्त दंग रजसा पुरुषा भवन्ति ।

[बिना कारण ही उत्पन्न हुई हँसी से खिले हुए जिनके

दाँत कुछ २ दिखाई पड़ते हैं, जिनका अस्पष्ट और तोतला बोल बड़ा रमणीय मालूम होता है, और जो गोद में रहने के बड़े प्रेमी हैं, ऐसे बालकों के अङ्ग की धूल जिन भावनाओं की गोद को पवित्र करती है, वे धन्य हैं।]

वे उस बालक के लिए इतना सोच रहे हैं, इतने ही में उनके सम्मुख रमणी प्रवेश करती है। रमणी और कोई नहीं उसी बालक की माता शकुन्तला है। उसके मुख पर अब यौवन सुलभ चञ्चलता नहीं है, अब वह उन्माद, वह उच्छृंखलता, वह वासना सब निकल गई है। अब उसके मुख पर एक दिव्य शान्ति की रेखा खेल रही है, शरीर की दुर्बलता पर पातिव्रत का तेज, रुदन पर हँसी की तरह शोभा पा रहा है। अब वह उस वेगवती नदी की तरह नहीं है जिसमें क्षण २ में चञ्चल तरङ्गें उठा करती हैं, बल्कि अब वह एक स्थिर, ध्रुव, शान्त सरोवर की तरह हो गई है। वह विरह की कठिन अग्नि में तप कर शुद्ध सोने की तरह चमकने लगी है—इधर दुष्यन्त के भाव भी बहुत कुछ बदल गए हैं। वे भी अब उच्छृंखल युवक नहीं हैं, वे भी अब एक सच्चे प्रेमिक के रूप में शकुन्तला के सम्मुख उपस्थित हैं। और दुष्यन्त भी शान्त महासागर की तरह खड़े हैं। उस क्षण हेमकूट पर्वत का वह भाग मानों शान्ति का लीला क्षेत्र हो रहा था। चारों ओर से शान्ति के झरने प्रवाहित हो रहे हैं। कालिदास ने बहुत मार्मिकता के साथ शान्ति रस का यह अपूर्व चित्र खींचा है।

अद्भुत रस।

हम पहले लिख आए हैं कि, प्रकृति चंचल है। प्रकृति की चञ्चलता अथवा अनित्यता के जो दृश्य होते हैं, उन्हीं को हम

विचित्रता कहते हैं। यह विचित्रता ही जगत् के सौन्दर्य्य का प्राण है। प्रकृति में जगत् में-नित्य प्रति ऐसी अद्भुत लीलाएं हुआ करती हैं। जिन्हें देखकर अथवा सुनकर हमारा हृदय एकाएक स्पंदित अथवा स्थम्भित हो जाता है। कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः प्रत्येक मनुष्य के जीवन-सोपान में यह घटना वैचित्र्य दिखाई देता है। जब वह घटना-वैचित्र्य इतना व्यापक है, तो वह आवश्यक है कि नाटकों में भी इस प्रकार घटना वैचित्र्य दिखलाया जाय। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति भी कुछ ऐसी है कि, वह विचित्रता को पसन्द करती है। जहां तक किसी विचित्र घटना का अभिनय न करवाया जायगा वहां तक कभी मनुष्य का मन उत्कण्ठित न होगा और जहां तक उत्कण्ठा उत्पन्न न होगी, वहां तक देखने में सरसता भी उत्पन्न न होगी। इस कारण नाटक में अद्भुत रस का होना भी आवश्यक है। पर अद्भुत रस के दृश्यों को रखते समय यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि, घटना में किसी प्रकार की अस्वाभाविता न आने पाय। जैसे पृथ्वी का एकाएक फटजाना, आकाशवाणी का होना, शाप से भस्म हो जाना, आदि कई बातें ऐसी हैं जो आजकल सम्भवनीय नहीं समझी जाती। सम्भव है प्राचीनकाल में इस प्रकार की घटनाएँ घटित होती हों, पर आजकल के ज़माने में ये घटनाएँ नहीं हुआ करतीं। इसलिये देश और काल का पूरा ध्यान रख कर नाटक में अद्भुत रस की अवतारणा करना चाहिए।

रौद्र, विभत्स और भयानक।

जिस प्रकार शृंगार रस के साथी करुणा और शान्तरस हैं, उसी प्रकार "वीर रस" के साथी रौद्र, विभत्स और भयानक

रस है। वीर रस प्रधान नाटकों में इन तीन रसों की अवतारणा अवश्य की जाती है। क्योंकि, जो नाटक वीर रस प्रधान होगा उसमें युद्ध, हत्या वगैरह के दृश्य अवश्य होंगे। और युद्ध स्थल में, घायलों की चीत्कार,: कौओं और चीलों की आनन्द मय चीत्कार, और शिवजी के गणों का ताण्डव नृत्य आदि रौद्र, विभत्स और भयानक रसों को उत्पन्न कराने वाले दृश्य दिखाना चाहिए। अतः इन रसों की भी नाटक में आवश्यकता रहती है।

हमारी समझ में अब यदि इन नौ ही रसों को भाषा की दृष्टि से तीन विभागों में विभक्त कर दिया जाय, तो अनुचित न होगा। पहली श्रेणी में हम शृङ्गार, करुणा और शान्त रक्खेंगे, इन तीनों ही रसों का आपस में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां पर इन रसों का प्रयोग हो, वहां भी भाषा में बहुत ही कोमल पादावलि रक्खी जाय। उसके शब्द बिलकुल श्रुति मधुर होना चाहिए। इन रसों में श्रुति कटु शब्द बिलकुल अच्छे नहीं लगते। दूसरी श्रेणी में हम हास्य, और अद्भुत रस को रक्खेंगे। बिना किसी विचित्र घटना के हास्य नहीं उत्पन्न होता, अतः सिद्ध हुआ कि, विचित्रता और हंसी में बहुत सम्बन्ध है। इन रसों के प्रयोग में मध्यम श्रेणी की भाषा का प्रयोग करना चाहिए, हास्य रस में तो जहां तक हो कोमल शब्दों का प्रयोग ही रहना चाहिए। हंसी प्रायः मीठी हुआ करती है। उसमें कठोर शब्दों का प्रयोग अच्छा नहीं लगता। हां, यदि कहीं आवश्यकता हो तो कठोर शब्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। तीसरी श्रेणी में वीर, रौद्र, भयानक और विभत्स रसों का समावेश होगा। इन की भाषा भी मेघ गर्जना के तुल्य कर्कश, कठोर और जोश पैदा करने वाली होना चाहिए। मतलब यह कि,

यदि रसों के उपयुक्त ही भाषा होगी, नाटकीय सौन्दर्य्य की बहुत कुछ वृद्धि होगी।

विविध विषय।

नाट्य-कला सम्बन्धी प्रायः सभी मोटी बातों का संक्षिप्त विवेचन हम पूर्व अध्यायों में कर आए हैं। और उनमें से कई विवादग्रस्त विषयों पर हमने अपना स्वतन्त्र मत प्रदर्शित करने की धृष्टता भी दिखलाई है। लेकिन इस धृष्टता प्रदर्शन करने का यह मतलब कदापि नहीं है कि, हम उन विद्वानों के प्रति तनिक भी अवज्ञा दिखलाएं, जिनके मतों का इस पुस्तक में खण्डन किया है। हमारे हृदयों में अपने प्राचीन आचार्य्यों के प्रति अथवा आधुनिक विद्वानों के प्रति जो अखण्ड श्रद्धा है, वह शब्दों द्वारा नहीं बतलाई जा सकती। फिर भी यह समझकर कि हरएक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, एवम् उसे अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रगट करने का पूर्ण अधिकार है हमने अपने विचार खुले तौर से इस में प्रगट कर दिये हैं। दो चार छोटी २ बातों पर और प्रकाश डालकर हम पुस्तक के इस खण्ड को समाप्त कर देंगे।

आजकल के नाटकों में प्रायः देखा जाता है कि, उन में अस्वाभाविक घटनाओं का दौर दौरा बहुत ही अधिक रहता है। पृथ्वी का फटना, आकाश में से देवी देवताओं का उतरना, मृतक मनुष्यों का जी उठना, आदि बहुत सी असम्भव बातों का अभिनय प्रायः सभी नाटकों में पाया जाता है। हमारी समझ में नाट्य-कला की दृष्टि से ये बातें ठीक नहीं। उत्तम नाटक वही कहलाता है जिसमें नित्य प्रति देखी जाने वाली सांसारिक घटनाओं का ही, जरा जोरदार रूप से वर्णन हो।

बहुत विचार करने के पश्चात् अन्त में हम यही निर्णय कर पाये हैं कि, जनता के हृदय को चकित करके उसमें उत्कण्ठा भरने के लिये ही इन घटनाओं की अवतारणा की जाती है। लेकिन यह कारण भी ठीक नहीं। ऊँचे दर्जे का कवि तो वही है जो संसार में नित्यप्रति होनेवाली घटनाओं में ही चमत्कार भर के जनता को मुग्ध कर ले। जो कवि बहुत ही निम्न श्रेणी के होते हैं वे ही इस चमत्कार मय संसार को छोड़ कर आकाश और पाताल की ओर दौड़ते हैं। हिन्दी में प्रायः इसी प्रकार के नाटक लेखकों का आधिक्य है और इसी कारण हिन्दी में आज-कल पौराणिक नाटकों की बहुत धूम मच रही है। क्योंकि इस प्रकार की अमानुषिक घटनाएं पुराणों में बहुत पाई जाती हैं। जो लेखक नाट्य-कला के एक अणु को भी नहीं जानता, जो मनुष्य प्रकृति के एक पहलु को भी पहचानने में असमर्थ है, वही पुराणों को पढ़कर उनमें लिखी हुई अमानुषिक घटनाओं पर नाटक लिख बैठता है, और उस नाटक में एक दो बार पृथ्वी को फाड़ कर, दो चार बार आकाश से विमानों को उतारकर, चमत्कार भरने की कोशिश करता है। पर फिर भी वे नाटक प्रायः असफल ही रहते हैं।

हमारा यह कथन नहीं कि, पौराणिक नाटक लिखे ही न जांय। पौराणिक नाटकों की भी नाटकों में आवश्यकता है। हमारा तो इतना ही कथन है, नाटक लेखक उनमें अस्वाभाविकता न आने दें। पुराणों में जो अतिमानुषिक बातें पाई जाती हैं, उनके मर्म को समझ कर नाटक लेखक उनके साथ मानवी-प्रकृति का सामञ्जस्य दिखला दे। पौराणिक नाटकों के आदर्श में हम द्विजेन्द्र बाबू के "भीष्म, पापाणी" और "सीता" का नाम ले सकते हैं। ये नाटक बिलकुल पौराणिक हैं। पर इनमें अमानुषिक बातों की

छींट भी नहीं। चमत्कार एवम् मनोरंजकता भी इनमें यथेष्ट है, पर असम्भव घटनाओं की अवतारणा कहीं भी नहीं है।

सम्भव है उपरोक्त बातों में कई महाशयों से हमारा मतभेद हो। पर हमारी राय में तो हिन्दी के नाटक, अतिमानुषिकता की ओर से हटकर वास्तविकता की ओर जितने ही अधिक अग्रसर होंगे, उतनी ही अधिक उनकी उन्नति होगी।

स्वागत कथन।

हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने पारस्परिक कथनोपकथन के तीन विभाग कर दिये हैं ( ) सर्वश्राव्य [२] नियतश्राव्य [३] अश्राव्य। कोई भी पात्र जिस विषय को सब लोगों के श्रवणार्थ खुल्लमखुल्ला कहता है, उसे सर्वश्राव्य कहते हैं। इसके अतिरिक्त जो कथन कुछ पुरुषों से छिपा कर कुछ नियत पात्रों के श्रवणार्थ ही कहा जाता है उसे "नियतश्राव्य" कहते हैं। इनके सिवा एक श्राव्य और होता है जिसे "अश्राव्य कहते हैं। आजकल की भाषा में इसे "स्वागत कथन" कहते हैं। ऐसे कथन में वह पात्र ऐसी गुप्त बात कहता है जिसे वह किसी दूसरे पात्र को सुनाना नहीं चाहता। इस प्रकार के कथन द्वारा पात्र अपने मानसिक विकारों और गूढ़ विचारों को दर्शकों पर प्रगट करता है। उपन्यास-कार तो अपने पात्र के मानसिक विचारों को स्वयं अपनी ओर से बतला सकता है। पर नाटककार को ऐसे समय में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये हमारे आचार्य्यों ने इस युक्ति की सृष्टि की है पर हमारी समझ में यह उपाय कुछ हास्यास्पद ही सा मालूम होता है! चाहे वह व्यक्ति कितना ही मुँह क्यों न छिपाले, चाहे वह स्वयं

ही क्यों न छिप जाय। पर उसकी जिन बातों को कई हाथ दूर पर बैठे हुए दर्शक मजे से सुनेंगे, उन्हीं बातों को उसके बिलकुल पास खड़ा हुआ व्यक्ति न सुन पायगा, यह बिलकुल अस्वाभाविक है। इस युक्ति से नाट्यकला की स्वाभाविकता कई अंशों में नष्ट हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, नाट्यकला बहुत ही गहन है, और रहे सहे इस एक आधार को निकाल डालने पर वह और भी अधिक गहन हो जायगी। पर इसका कोई उपाय नहीं। पाश्चात्य नाटककारों ने भी इस "स्वगतोक्ति" को अपने नाटकों से निकाल दिया है। इसके स्थान पर उन्होंने एक नवीन उपाय का आविष्कार किया है। वे "स्वगत कथन" कहने वाले पात्र के सम्मुख एक और ऐसे नवीन पात्र को लाकर खड़ा कर देते हैं, जो उसका बड़ा विश्वास पात्र होता है। और उस नवीन पात्र के सम्मुख वे उस पात्र के हृदय की सारी बातें कहलवा देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, इसके लिए इन्हें अपनी कल्पना के ज़ोर से एक नवीन पात्र की सृष्टि करना पड़ती है, पर इस उपाय से वे नाट्यकला की स्वाभाविकता की बहुत कुछ रक्षा कर लेते हैं।

नौवां अध्याय।

आधुनिक नाटक मण्डलियां और उनके नाटक।

भारतवर्ष में और २ बातों के साथ २ इन दिनों नाटक मण्डलियों में भी बहुत उन्नति हुई है। जहां कुछ दिनों पहले अच्छे २ शहरों में भी नाटक मंडलियों का आना दुष्प्राप्य था, वहां आजकल हम देखते हैं कि, हरएक शहर में प्रतिदिन किसी न किसी नाटक का विज्ञापन मिल ही जाता है। बंगाली, गुजराती और मराठी में तो कुछ समय पूर्व से ही नाटक

मण्डलियों की प्रचुरता हो गई थी, पर हिन्दी ने बहुत ही कम समय पूर्व इस गौरव को प्राप्त किया है। फिर भी ऐसी नाटक मण्डलियां जो खासकर हिन्दी नाटकों के खेलने के ही लिये बनाई गई हैं; अब भी इनी गिनी ही हैं। अधिकतर, मराठी, गुजराती और उर्दू के खेल करने वाली कम्पनियों ने ही हिन्दी भाषा भाषी दर्शकों की प्रचुरता देखकर अपनी कम्पनियों में हिन्दी के नाटक अभिनय करना प्रारम्भ किया है। जितनी भी कम्पनियां अभी हिन्दी के खेल करती हैं, उनमें से कलकत्ते की अलफ्रेड कम्पनी, बम्बई का सूरविजय समाज, पूने की किर्लोस्कर मण्डली, नासिक की शिवराज संगीत मण्डली, पूने की नाट्य-कला प्रवर्तक मण्डली, मेरठ की व्याकुल भारत थियेट्रिकल कम्पनी, आदि प्रसिद्ध हैं। उपरोक्त मण्डलियों में पहली उर्दू की, दूसरी गुजराती की, उसके पश्चात् की तीन मराठी की और अन्तिम खास हिन्दी की है। इनके सिवाय और भी कई कम्पनियां सुनी जाती हैं, पर हमारे देखने में वे नहीं आईं। इस लिये उनका नाम और परिचय देना दुसाध्यसा ही है।

इसमें सन्देह नहीं कि, नाटक कम्पनियों की यह बढ़ती हुई संख्या और उनमें आनेवाले दर्शकों का उत्साह हिन्दी भाषा के लिए गौरव का चिन्ह हैं। फिर भी हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि, उपरोक्त नाटक मण्डलियों का प्रधान उद्देश्य केवल अर्थ संचय करना ही रहता है। नाट्यकला की उन्नति पर अथवा जनता के भावों के विकासपर इन कम्पनियों के मालिकों की बहुत ही कम दृष्टि रहती है। वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य समाज की उन्नति की, अथवा देश की आज़ादी की जितनी जिम्मे-

दारी इन नाटक कम्पनियों पर है, उतनी किसी पर नहीं। पर इस देश की कम्पनियां पैसे की मोहनी सूरत में इस भारी जिम्मेदारी को भूल जाती हैं यह बड़े ही दुःख का विषय है। न तो इन नाटकों में चरित्रचित्रण पर ही ध्यान दिया जाता है, न आदर्शवाद पर ही। केवल अलिफ़लैला के मनोहर एवम् उत्तेजक दृश्य दिखलाकर जनता के पैसे को प्राप्त करना ही इनका उद्देश्य रहता है। हमारे यहां की अबोध, जनता हज़ारों वर्ष की गुलामी भुगतते भुगतते पहले ही विलास की इन्द्री लीला में डूब रही है। देश के दुर्भाग्य से जब से भारतमाता की छाती पर यवनों का पदाघात हुआ, तभी से इस देश में विलास देवता की मायाविनी लीला का अभिनय होना प्रारम्भ हुआ। कर्त्तव्य का कठोर उपासक भारतवर्ष मुगलों के अन्तःपुर की उन ऐन्द्रजालिक लीलाओं को देखकर मुग्ध हो गया। उसका यहां तक पतन हुआ कि, कर्त्तव्य तो एक ओर वह अपने मनुष्यत्व तक को गँवा बैठा। उसके पश्चात् मुसलमानी राज्य का पतन हुआ। अंग्रेजों का प्रारम्भ हुआ, आशा हुई कि, अब इस विलास लीला का अन्त हो जायगा। पर यह आशा भी घोर निराशा के रूप में परिणत हुई। मखमली गद्दे पर सुख की नींद से सोये हुवे, भारतवासियों के सिर के ऊपर अंग्रेजों ने और एक बिजली का पंखा लगा दिया। उस विलास की जलती हुई अग्नि को बुझाने के बदले उन्होंने उसमें और एक लोटा घृत की आहुती दे दी, बस, फिर क्या था, आग धधक उठी, उस धधकती हुई अग्नि में आज भी सारा भारत जल रहा है। उस विलास-समुद्र में आज भी वह गोते लगा रहा है।

नाटक मण्डलियों का वास्तविक कर्त्तव्य तो यह है कि, जनता के अन्दर बढ़ती हुई इस विलास प्रवृति को रोकने का प्रयत्न

करें। जनता की भद्दी रुचि के विरुद्ध वे नाटकों की रचना करवा कर उनका अभिनय करें। और इससे उस बढ़ती हुई दुर्नीति के मार्ग में रोड़े अटकावें। जो नाटक मण्डलियाँ जनता के भावों को सुधारने की जगह स्वयं उन भावों में बहने लग जाती हैं, उनसे देश कैसे आशा कर सकता है। जो नाटक मण्डलियाँ केवल अपने लम्पट दर्शकों को खुश करने के लिये—

"आगरा को घाघरो मंगाय दे रे रंभा देवरिया"

आदि भद्दे गीतों का अपने नाटकों में अभिनय करवाती हैं। उन का उद्देश्य क्या है यह भगवान् ही जाने! बात बुरी है, लिखते हुए लेखनी को शर्म सी लगती है, और हृदय भी काँप उठता है; पर उस दर्द नाटक दृश्य को लिखे बिना भी नहीं रहा जाता। लेखक ने कई नाटकों के अन्दर आँखों से देखा है कि, इस प्रकार के गन्दे गीतों के सुनने से कई दर्शकों को स्खलन [वीर्यपात] तक हो गया है; और बाहर आ २ कर उन्होंने कपड़ों को धोकर साफ़ किये हैं। हमने भी नहीं, कई हमारे और भी सहृदय मित्रों ने ऐसे दृश्य देखे हैं; और उनके चित्तपर तो नाटकों और उपन्यासों के विषय में यह धारणा दृढ़ता से जम गई है कि, साहित्य के ये दो अङ्ग केवल चरित्र को भ्रष्ट करने के लिये ही बनाए हैं।

बात सत्य है। नाटकों की इस दुर्दशा को देखकर हमारे मित्र ही क्या, कोई भी सहृदय यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि, नाटक किसी भी अंश में जनता के लिये लाभदायी हो सकते हैं।

हमारे इस विरोध पर कई लोगों ने हम से पूछा कि,

नाटक में शृंगाररस की जरूरत हुआ करती है, प्रेम का चित्र भी उस में वांछनीय रहता है, फिर इन चित्रों को देखकर आप क्यों नफ़रत करते हैं? इस बात का संक्षिप्त उत्तर इसी स्थान पर दे देना असंगत न होगा।

हम यह मानने को बिलकुल तैय्यार हैं कि, शृंगाररस नाटक का प्रधान रस है, और प्रेम का चित्र भी उसके लिए अत्यन्त आवश्यकीय है। पर साथ ही हम पूछते हैं कि, क्या इस प्रकार की सामग्री शृंगाररस में शुमार की जा सकती है? शृंगाररस तो वही है जिससे जनता के अन्दर कोमल भावों का संचार हो, जिससे जनता के दुष्ट भावों का नाश हो जाय। शृंगार रस वही है जिस में अश्लीलता की एक छींट भी न हो, जो शुरू से अन्ततक पवित्रता के रस में डूब रहा हो। जिस रस में अश्लीलता हो, उत्तेजन हो, कामवासना हो, जो मनुष्य के नग्न सौन्दर्य्य को प्रगट करता हो, वह शृंगार नहीं है, वह तो महा हीन जाति का विभत्स रस है, जो मनुष्य की पवित्र भावनों का नाश करता है, जो उसके हृदय में लालसा का प्रचण्ड प्रवण्डर प्रवाहित कर देता है, यहां तक कि, जो मनुष्य को पिशाचतक बना देता है। इसी प्रकार "प्रेम-चित्र" की भी हालत है। हमारी इन नाटक कम्पनियों में अपनी इस दुर्दशा को देखकर मानों "प्रेम देव" रुष्ट होकर इस देश से अन्तर्हित हो गये हैं।

प्रेम क्या है? मनुष्य प्रकृति के दो विभाग किये जाते हैं एक हृदय, और दूसरा मस्तिष्क। इन दोनों में से एक २ सत्प्रवृत्ति और एक २ कुप्रवृत्ति का जन्म होता है। हृदय से उत्पन्न सत्प्रवृत्ति को "प्रेम" कहते हैं, और कुप्रवृत्ति को "माह"

मस्तिष्क से उत्पन्न सत्प्रवृत्ति को "कर्त्तव्य" कहते हैं। और कुप्रवृत्ति को अज्ञान। इन में से प्रेम और कर्त्तव्य में और मोह अज्ञान में दृढ़तर सम्बन्ध है।

वास्तविक प्रेम आकाश से भी अधिक निर्मल, विश्वास से भी अधिक स्वच्छ, और त्याग से भी अधिक कठोर होता है। इस प्रेम के निर्मल सागर में कामना की लहरें नहीं उठतीं, लालसा का बवण्डर नहीं चलता। इस कामनाहीन प्रेम का सुराथ करना जबतक मनुष्य हृदय में बहता रहता है, तब तक मनुष्य में राग, द्वेष, काम, वासना, का एकदम अभाव रहता है। इस प्रेम की निर्मल धारा किसी एक या अनेक पर नहीं बहा करती, वह धारा सारे विश्वपर अपना अमृतमय वर्षण किया करती है। भगवती सीता का, भगवान् बुद्धदेव का और चैतन्य महा प्रभु का प्रेम इसी ढङ्ग का था।

मनुष्य हृदय के अन्दर जिस प्रवृत्ति से किसी विशेष व्यक्ति पर लालसा का उदय होता है, जब वह यह चाहने लगता है कि, यह व्यक्ति हमेशा मेरे पास रहा करे, जब वह अपनी दोनों कोमल भुजाओं में दबे बन्दकरके रखने की इच्छा रखता है, उस प्रवृत्ति को "मोह" कहते हैं। मोह का मूल कारण अज्ञान है। यह जानते हुए भी कि, यह व्यक्ति हमेशा के लिए मेरे पास नहीं रह सकता, कभी न कभी उससे विच्छेद होगा ही; उसे बलात्कार रोकने की चेष्टा करता है। इसमें उसके स्वार्थ की भावना विशेष रहती है। इसी मोह के वशीभूत होकर मनुष्य तरह २ के अनाचार करता है। "काम वासना" इसी मोह का एक प्रधान अङ्ग है। सुन्दरी रमणी अथवा सुन्दर पुरुष इस वासना का भोज्य पदार्थ है। मनुष्य किसी सुन्दर रमणी को देखते ही उसे प्राप्त करने की

कोशिश करता है और इसमें विशेषता यह कि, हज़ारों रमणियां प्राप्त कर लेनेपर भी इसमें तृप्ति नहीं मिलती। और इसी कारण अज्ञानी मनुष्य अपने घर की सती नारियों को छोड़कर पराई स्त्रियों की ओर या वेश्याओं की ओर दौड़कर अपने बहुमूल्य चरित्र का नाश करते हैं।

जब विलास-सामग्री का बहुत प्राबल्य होताहै, तब इस वासनाका भी अधिकाधिक उदय होता है। भारतवर्ष में आजकल यह वासना जितनी अधिक रूप में पाई जाती है, उसे देखकर हृदय थर्रा जाता है। इस बढ़ती हुई वासना को घटाने के स्थान पर हमारी नाटक मण्डलियां और भी प्रज्वलित करने का उपाय सोचतो हैं। हरएक नाटक में कुछ न कुछ अश्लीलता अवश्य मौजूद रहती है, और वह अश्लीलता ही लोगों के भ्रष्ट चरित्र रूपी ईंधन में घी का काम करती है।

उपरोक्त लम्बे चौड़े कथन से हमारा यह मतलब नहीं है कि हम सभी नाटकोंपर यह घृणित आरोप लगांय। इन कम्प-नियों में कुछ नाटक ऐसे भी खेले जाते हैं, जिनमें ये बातें नहीं हैं। आधुनिक नाटक कम्पनियों में हम "शिवराज संगीत मण्डली का नाम गौरवपूर्ण हृदय से उच्चारण करेंगे। इसके तीन खेल देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, "सिद्ध संसार" देश-दीपक' और "गौरक्षा" यद्यपि इन खेलों में भी अनेक त्रुटियां हैं, नाटकीय दृष्टि से इनका बहुत ही कम महत्व है। तथापि सामयिकता की दृष्टि से ये नाटक अच्छे हैं। इनमें अश्लीलता का एक प्रकार से अभाव ही है। हम उक्त मण्डली के मालिक से सविनय अनुरोध करेंगे कि, वे अपने नाटकों में कुछ स्थायित्व लानेकी कोशिश करें। और साथ ही साथ कुछ गम्भीरता भी।

क्योंकि इन नाटकों में हास्यरस का अभिनय बहुत ही उच्छृंखल रहता है। यद्यपि हास्यरस के अभिनय में कुछ गम्भीरता अवश्य नष्ट हो जाती है, फिर भी उत्तम नाटककार की लेखनी उसकी बहुत कुछ रक्षा कर सकती है। इसके अतिरिक्त इसमें सीन सीनरी का बहुत ही अभाव है; इसकी पूर्ति होना आवश्यक है।

व्याकुल भारत कम्पनी का "बुद्धदेव" नाटक बहुत ही उत्तम लिखा गया है। पर उसके हास्यरस के प्लॉट में भी वही उच्छृंखलता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार की उच्छृंखलता नाटक कला की दृष्टि से बहुत ही हीन, और समाज की दृष्टि से भी लांछनीय होती है।

और २ कम्पनियों में भी हास्यरस का अभिनय इतना उच्छृंखल भद्दा और बेहूदा होता है कि, उसे देखने तक में शर्म लगती है। नाटक कला के इस प्रधान रस की हिन्दी और उर्दू में जैसी मिट्टी पलीत की गई है, उसे देखकर हृदय कांप उठता है।

हम हिन्दी की सभी नाटक कम्पनियों से अनुरोध करेंगे कि, और २ रसों को सुधारने के साथ २ हास्यरस पर किये गये इस अमानुषिक अत्याचार को भी दूर करें। नहीं तो यह गन्दा हास्य हिन्दी जनता को और भी चरित्र भ्रष्ट कर देगा। हमारा यह कथन नहीं है कि, आप हास्यरस को त्याग ही दें, नहीं हम तो उसे नाटक प्रधान रस समझते हैं। हमारा कथन केवल यही है कि, हास्यरस की इस प्रकार हत्या न करें। उसे उज्वल रूप दें। और इस विषय में आप बंगाली नाटकों का अनुकरण करें।

हम नम्रता पूर्ण शब्दों में तमाम नाटक-कम्पनियों से प्रार्थना करेंगे कि वे अपनी भारी जिम्मेदारी को समझें। जनता के हृदयों में सद्भावों का प्रचार करने की सब से सरल कुँजी आपके हाथों में है। देश के उत्थान और पतन की भी बहुत कुछ जिम्मेदारी आपके ऊपर है। उस जिम्मेदारी को समझकर आप अपने नाटकों की रचना करवाएं। वे नाटक ऐसे हों जिन्हें देखते २ जनता में सद्भावों की लहरें दौड़ने लगें। जिन्हें देखते २ कायरों की भुजाएं फड़कने लगें जिन्हें देखकर वृद्धों में जवानी का जोश उमड़ आवे, बीमार अपनी शय्या को छोड़कर उठ जांय, कुबड़े छाती तान कर खड़े हो जांय; और सारी जनता में कर्त्तव्य पालन के भाव लहराने लगें। उन नाटकों के प्रभाव से अत्याचार के हाथ का राज-दण्ड छूट जाय स्वार्थ के सिर का मुकुट गिर पड़े, और कृतघ्नता के तेज का लोप हो जाय। जिस दिन आपके रंगालयों में इस प्रकार का नाटकों का अभिनय आरम्भ हो जायगा, उसी दिन से आपका, हमारा, देशका, और सारे विश्व के कल्याण का मार्ग खुल जायगा।

हमारी राय में इस समय यदि आप बंगाली नाटकों का, और उस में भी खास कर द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का अनुकरण करेंगे तो बहुत लाभ प्रद होगा।

नाटकत्व।

हम पहले लिख आए हैं कि, नाटक का तत्त्व प्रायः किसी न किसी प्रकार के अन्तर्विरोध में ही रहा करता है। इस अन्तर्विरोध के विकास में ही नाटकीय नाटकत्व का महत्त्व है। दो विरोधीपक्ष, दो विरोधीभाव अथवा दो विरोधी सिद्धान्तों का

नाटक में चित्रण करके उनमें परस्पर संघर्ष करवाया जाता है। और उसी संघर्ष के साथ २ घटनाओं का विकास किया जाता है। साधारण श्रेणी के नाटकों में दो विरोधी व्यक्तियों को अथवा दो विरोधी दलों को खड़ा करके परस्पर में उनका संघर्ष करवाया जाता है और अन्त में एक को विजयी और एक को पराजित कर नाटक को समाप्त कर दिया जाता है। पर ऊँची श्रेणी के नाटकों में दलों की जगह दो विरोधी भावों का चित्रण किया जाता है। एक ही व्यक्ति के अन्दर कुशल नाटककार दो विरोधी प्रवृत्तियों का चित्रण कर उनका संघर्ष करवाता है, कभी एक प्रवृत्ति की विजय होती दिखलाई देती है, तो कभी दूसरी प्रवृति बलवान् नजर आने लगती है, इस प्रकार कई टक्करें खाते २ एक प्रवृत्ति दूसरी को कुचल डालती है, और वह व्यक्ति उसी विजयी प्रवृत्ति के अनुकूल कार्य्य करने लगता है। जैसे कोई लेखक एक उत्कृष्ट देशभक्त को स्टेज पर लाता है, उस देशभक्त का हृदय एक ओर तो अनेक अनेक गरीब देशबन्धुओं के दुःख को देखकर पसीज उठता है, एवं उनके लिए वह प्राण तक देने को तैय्यार हो जाता है, पर दूसरी ओर कुटुम्ब के असहाय लोग उसका पल्ला पकड़ते हैं, वे उसके जाने में बाधा डालते हैं। एक ओर हृदय में उमड़ी हुई देशभक्ति की लहर उठती है तो दूसरी ओर असहाय कुटुम्बियों का मोह ले पड़ता है! इन दोनों प्रवृत्तियों में भड़कर युद्ध ठनता है। और अन्त में एक प्रवृत्ति दूसरी को पछाड़ मारती है। यदि पहली प्रवृत्ति की विजय हुई तब तो बुद्धदेव की तरह वह व्यक्ति विश्वप्रेम के सम्मुख कुटुम्बियों के प्रेम को लात मार कर वैरागी हो जायगा, और यदि दूसरी प्रवृत्ति की विजय हुई तो वह देशसेवा और विश्वप्रेम के

सिद्धान्त भूलकर मोहपाश में पड़ जायगा। मतलब यह कि प्रवृत्तियों के इस विरोध का जितना ही अधिक विकास बतलाया जायगा, नाटक उतना ही उच्च श्रेणी का होगा।

नाटक में जिस स्थान से इस संघर्ष का आरम्भ होता है वहीं से मानों वास्तविक प्लॉट का भी आरम्भ होता है और जहां इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम निकल जाता है, वहीं पर नाटक का अन्त हो जाता है। अर्थात् संघर्ष के आरम्भ से ही नाटक का आरम्भ और उसके अन्त से ही नाटक का अन्त समझना चाहिए। उस आरम्भ और अन्त के बीच प्लॉट का विकास किस प्रकार करना चाहिए यह बात विचारणीय है। आधुनिक पाश्चात्य नाटककारोंने इस आरम्भ, अन्त और विकास को पांच भागों में विभक्त किया है। पहला आरम्भ, जिसमें घटना का आरम्भ और पारस्परिक विरोध को उत्पन्न करने वाली कुछ सामग्री रहती है, दूसरा विकास, जिसमें अनेक प्रकार के घात प्रतिघात और विरोध के धक्के सहते २ घटना आगे बढ़ती है, इसमें यह मालूम नहीं होता कि, अन्त में किस पक्ष की या किस प्रवृति की विजय होगी, इसमें प्रवृत्तियों का भयङ्कर युद्ध ठन जाता है। तीसरा पूर्ण विकास; इसमें उन दोनों पक्षों या प्रवृत्तियों का युद्ध चरम सीमा पर पहुंच जाता है, और होते होते अन्त में एक पक्ष या एक प्रवृत्ति कुछ कुछ थकी हुई सी मालूम होने लगती है। इसमें दर्शकों को विजय और पराजय का कुछ २ भाव होने लगता है। पर किसी एक दल की विजय या पराजय का बिलकुल निश्चय इसमें भी नहीं हो पाता। कभी २ ऐसा भी होता है कि, तीसरे अङ्क में जिस दल की विजय की आशा हमारे हृदयमें बंधती है, वह आगे आकर एकदम

पछाड़ खाकर पराजित हो जाता है, और दूसरा दल जिसके पराजित होने की शङ्का रहती है वह विजयी हो जाता है। इस अङ्क में विरोध अपनी अन्तिम सीमा को पहुंच जाता है। चौथा उतार; इस में विरोध घटने लगता है। एक दल साफ़ तौर से विजयी मालूम होने लगता है और दूसरा पराजित। इसमें छोटी २ घटनाएं मात्र बतला दी जाती हैं। पांचवा अन्त, इसमें उस विरोध का अन्त होकर विजयमाला एक पक्ष को मिल जाती है।

आजकल के कुछ सामान्य नाटककार नाटकों को तीन ही अङ्क में समाप्त कर डालते हैं। पहले में वे प्रारंभ करके दूसरे में विरोध का चरम विकास दिखला देते हैं। और अन्त में तीसरे अङ्क में उस विरोध की समाप्ति करके यवनि–का पतन कर डालते हैं। पर हमारा ख्याल है कि, तीन विभागों की अपेक्षा पांच विभाग करने से नाट्य–कला कुछ अधिक सहज हो जायगी।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी कथावस्तु के पांच ही भाग किये हैं। पर चूंकि, उनकी नाटक रचना का उद्देश्य अन्तविरोध या युद्ध नहीं था, इस लिये उनके विभाग भी इस ढङ्ग के न होकर दूसरी ही तरह के हैं। उनके किये हुए विभागों के नाम इस प्रकार हैं। (१) आरम्भ (२) यत्न (३) प्रत्याशा (४) नियताप्ति और (५) फ़लागम। किसी फ़ल को प्राप्त करने की मनुष्य के अन्दर जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसी इच्छा के अन्दर से हमारे संस्कृत नाटकों का जन्म होता है। और उसी इच्छा के आरम्भ से उनका श्रीगणेश भी होता है। उसके पश्चात् दूसरे विभाग में नाटक का मुख्य नायक उस इच्छा की पूर्ति के लिए

यत्न करता है, बाद में उन यत्नों में नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, और तीसरे अङ्क में उसे फल प्राप्ति की कुछ २ आशा बंधती है; पर विघ्नों का समूल नाश इस अंक में भी नहीं होता। यहां भी उसे कई विघ्नों का सामना करना पड़ता है। चाथे "नियताप्ति" वाले अङ्क में उसके विघ्न दूर हो जाते हैं, और फल प्राप्ति की उसे पूर्ण आशा हो जाती है। हां, छोटे २ विघ्नों से यहां भी उसे लड़ना पड़ता है इस युद्ध की पूर्णाहुति पांचवें अंक में आकर होती है, और उसमें उसे इष्ट सिद्धि होती है।

मतलब यह कि, पौर्वात्यों ने और क्या पाश्चात्यों ने दोनों ही ने कथा भाग के पांच विभाग ही उचित समझे हैं। पाश्चात्यों ने तो इन्हीं पांच विभागों के अनुसार नाटक में पांच अङ्क बना दिये हैं। जिससे एक २ अङ्क में क्रमशः एक विभाग आता जाय। पर संस्कृत नाटकों में यह बात नहीं है। उन में किसी नाटक में पांच, किसी में सात और किसी २ में दस तक अङ्क हैं। हमारी समझ में नाट्यकला की इस दृष्टि से पांच अंक का होना ही अधिक उपयुक्त है। पर इसके साथ ही इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि, इन विभागों के अनुसार ही अङ्कों की गति होना चाहिए। कोई २ लेखक ऐसा करते हैं कि, पहले अङ्क में उसका आरम्भ कर पांचों अङ्कों में बराबर युद्ध चलाते रहते हैं, यहां तक कि, पांचवे अङ्क तक भी किसी की विजय के लक्षण नहीं दिखाई देते, और अन्त में एकदम एक ही दृश्य में ले जाकर नाटक को खतम कर देते हैं। यह बात बहुत अनुचित है। ऐसा करने से नाटकों का प्लॉट बहुत ही अस्तव्यस्त हो जाता है। और उस में बहुत कुछ अस्वा भाविकता घुस जाती है नाटक देखते २ दर्शकों को कभी अस्वाभाविकता मालूम न होना चाहिए। उसका आरम्भ, विकास, पूर्ण विकास, उतार, और

समाप्ति बिलकुल क्रमशः और ऐसे ढङ्ग से होना चाहिए जिससे उसकी स्वाभाविकता भी रक्षा के साथ २ दर्शकों के हृदय में ग्लानि के भाव भी उत्पन्न न हों।

इसके अतिरिक्त एक बात को और ध्यान में रखना आवश्यक है। किसी भी अच्छे नाटक में पात्रों की संख्या जहाँ तक हो सके कम रखना चाहिये। क्योंकि, नाटककार को अपने नाटक में प्रत्येक पात्र का चरित्र चित्रण और उसके मानसिक विकारों का चित्र खींचना पड़ता है। यदि पात्रों की संख्या कम हुई तब तो वह खुली आजादी से उनके मनोविकारों का चित्र खींच सकेगा, पर यदि पात्रों की संख्या अधिक हुई तो नाटक के उस संकुचित क्षेत्र में वह ऐसा करने में असमर्थ रहेगा। ऐसी हालत में या तो उसे चरित्र चित्रण में संक्षिप्तता लाना होगी, या कथावस्तु को आगे बढ़ाने में बेहद जल्दी करना होगी। इन दोनों स्थितियों में पात्रों का चरित्र बहुत कुछ अस्पष्ट रह जाने की आशङ्का रहेगी। इसलिए इस बात पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त नाटक की घटनाओं को जहाँ तक हो सरल रखने की चेष्टा करना प्रत्येक नाटककार का कर्त्तव्य है। जटिल घटनाओं को स्पष्ट करने के लिए लम्बी लम्बी वक्तृताओं, और विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता होती है। नाटक में न तो लम्बी वक्तृताओं को ही स्थान रहता है, और न उसमें विस्तृत क्षेत्र ही रहता है। इसलिये जटिल घटनाओं की अवतारणा करने से उसका बहुतसा सौन्दर्य्य नष्ट होने की सम्भावना रहती है।

जहां से प्रतिविरोध का आरम्भ होता है, वहीं से नाटक—

कार को अपने नाटक के दृश्यों को ऐसा सजाना चाहिए, जिन्हें देखकर दर्शकों की उत्सुकता बराबर बढ़ती जाय। नाटक के प्रारम्भ से अन्ततक यदि कहीं भी दर्शक उकता गये तो उस नाटक का महत्व बहुत कम हो जाता है। ऐसा एक भी दृश्य न आना चाहिए जो नाट्य-कला की दृष्टि से व्यर्थ और बलात्कार ठूसा हुआ जान पड़े। प्रत्येक दृश्य नाटक के क्रम विकास में सहायता पहुँचानेवाला होना चाहिए। आगे की घटनाओं का पिछली घटनाओं से क्रमबद्ध सम्बन्ध रहना चाहिए। और वे-(आगे की घटनाएँ)-उनका-(पिछली घटनाओं का)-तर्क-सिद्ध परिणाम जान पड़ना चाहिए।

इस प्रकार यदि नाटक का संगठन किया जायगा तो अवश्य वह सफ़ल नाटकों में गिना जायगा।

भारतीय नाट्यकला।

यह बात पहले प्रमाणिक रूप से लिखी जा चुकी है कि, संसार में सब से पहले नाट्यकला का विकास भारतवर्ष में ही हुआ। अब हम बहुत संक्षिप्त रूप से यहां की नाट्यकला का कुछ विवेचन करना उचित समझते हैं।

नाटक क्या है? इस विषय को हल करते हुए यहां के भिन्न २ विद्वानों ने भिन्न २ सम्मतियां प्रकट की हैं। नाट्यशास्त्र के मुख्य आचार्य्य भरत मुनि इस विषय को हल करते हुए अपने नाट्यशास्त्र में कहते हैं—

नृपतीनां यच्चरितं नानारसभाव संश्रितं बहुधा।
सुख दुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम। १२।

(भारतीय नाट्यशास्त्र १८ वां अध्याय)

अर्थात्—राजाओं के अथवा अखिल मानवजाति के सुख दुःखात्मक चरित्रों को जिस में नाना प्रकार रसों से युक्त कर दिखलाया जाता है, उसे नाटक कहते हैं।

आगे चलकर इसी नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में वे कहते हैं—

अवस्था याहि लोकस्य सुख दुःख समुद्भवा।
नाना पुरुष संचारा नाटके सा भवेदिह।१२१।
न तज्ज्ञानं नतच्छिल्पं नसाविद्या नसाकला।
न तत्कर्म समायोगो नाटके यन् न दृश्यते।१२२।
योयं स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः।
साङ्गाभिनय संयुक्तो नाटके स विधयिते।१२३।

अर्थात्—नाटकों में नाना प्रकार के पुरुषों के संचार से युक्त लोक की अवस्था का यथार्थ दिग्दर्शन करवाया जाता है। ऐसा न तो कोई ज्ञान है, न कोई शिल्प है, न कोई विद्या है, न कोई कला है और न कोई काम है जो नाटकों में न दिखाया जाय। लोक का नानावस्थान्तरात्मक जो स्वभाव है वह नाना प्रकार के हाव भाव और अङ्ग संचालन के द्वारा नाटक में अभिनीत किया जाता है।

दश रूपक नामक नाट्य-लक्षण ग्रन्थ के रचयिता धनंजय कवि नाटक की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

अवस्थानुकृति नाटयं रूपं दृश्य तयोच्यते।
रूपकं सत् समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम्।
(दश रूपक १ अध्याय)

अर्थात् अवस्थाओं का वास्तविक चित्रण जिसमें अभिनय के साथ दिखलाया जाता है उसी को नाटक कहते हैं। यह

नाटक दश प्रकार का होता है और सब रसों के आश्रय में रहता है।

भारतीय नाटकों का मूल उद्देश्य।

नाटक शब्द संस्कृत की "नट्" धातु से निकला है। संस्कृत में "नट्" शब्द का अर्थ नृत्य अथवा नाचना होता है। जो आदमी नृत्य सङ्गीत के साथ अपने मनोगत भावों को दर्शकों पर प्रकट करता है उसे ही संस्कृत में नट् बोलते हैं। इससे मालूम होता है कि, नृत्य और सङ्गीत से ही यहां के नाटकों की उत्पत्ति हुई है जब नृत्य और सङ्गीत से भारतीय नाट्य-कला की सृष्टि हुई, तो यह निश्चय है कि, प्रारम्भ में उसका मूल उद्देश्य मनोरञ्जन ही रहा होगा। क्योंकि, नृत्य और सङ्गीत की सृष्टि प्रायः मनोरञ्जनार्थ ही हुई है। जब यहां की साधारण जनता किसी प्रकार के आनन्द में मग्न हो जाती थी, अथवा कोई कठिन कार्य्य निर्विघ्न पार पड़ जाता था (जैसी खेती वगैरह) तो उसी समय उस आनन्द को प्रदर्शित करने के लिये नृत्य और सङ्गीत के साथ कोई अभिनय किया जाता था। इस बात के प्रमाण कई नाटकों में पाये जाते हैं। हमारे यहां अभिनय का मुख्य काल बसन्त-ऋतु माना गया है जब बसन्त-ऋतु का आगमन होता था। सब धन धान्य खेती बाड़ी आनन्द से घरों में आ जाती थीं। एवं लोग आनन्द में मस्त हो जाते थे, तब कोई आनन्द-वर्द्धक अभिनय किया जाता था। कालिदास के "मालविकाग्नि मित्र" नामक नाटक में एक स्थान पर लिखा है—

"विद्वात् परिषदा कालिदास ग्रथित वस्तु मालविकाग्नि मित्र नाम नाटक मस्तिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्त व्यमिति"

कहने का मतलब यह कि, नाटक के बनाने के उद्देश्य और अभिनय के समय आदि को देखकर यह मालूम होता है कि, भारतीय नाटकों की सृष्टि प्रारम्भ में मनोरञ्जन के अथवा धार्मिक उत्सवों के निमित्त ही हुई।

पर ज्यों २ समाज की अवस्था उन्नत होती गई, त्यों २ इस प्रवृत्ति में परिवर्तन होता गया। इस प्रकार के अभिनय से भी लोगों पर जब कुछ प्रभाव पड़ने लगा, तो लोगों का ध्यान इस कला की गहनता पर गया। उनको इसकी उपयोगिता मालूम होने लगी। उन्हें यह प्रतीत होने लगा कि, इस कला के द्वारा तो क्या राजनैतिक क्या सामाजिक और क्या नैतिक सभी प्रकार की उन्नति की जा सकती है। यह बात मालूम होते ही उन्होंने नाटकों में मनोरञ्जन के साथ २ नीतिशिक्षा, और प्रकृति निरीक्षण के दृश्य भी भरना प्रारम्भ किये। धीरे २ यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई कि, लोग इसके सम्मुख मनोरञ्जकता के उद्देश्य को भी भूल गये। और नाटक मनोरंजक सामग्री की जगह नैतिक सामग्री गिनी जाने लगी। हां, मनोरञ्जन थोड़ी तादाद में अब भी उस में रहता था।

भारतीय नाटकों के भेद।

ज्योंही नाटक की उपयोगिता लोगों को मालूम हुई त्योंही उनका ध्यान इस कला की उन्नति करने की ओर गया। इस कला के लक्षण ग्रन्थ आदि बनने लगे। कहा जाता है कि, पहले शिलालिन्, कृशाश्व आदि लोगों ने इस कला सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ लिखे, पर इस समय वे अप्राप्य हैं। इस समय जो ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमें भरत मुनि का "नाट्य शास्त्र" और

धनञ्जय का "दश रूपक" विशेष प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में नाटक के दो भेद किये हैं। (१) रूपक और (२) उपरूपक इन भेदों से साफ़ जाहिर होता है कि, हमारे पूर्वज इस कला में कितने प्रवीण थे। और कितनी बारीकी से उन्होंने इसका अध्ययन किया था।

रूपक के दश भेदों का कुछ संक्षिप्त वर्णन कर देना हम यहां उचित समझते हैं।

(१) नाटक—यह रूपक के सब भेदों में से मुख्य है। आचार्यों के मत से इसमें पांच संधियां, चार वृत्तियां, चौंसठ संध्यंग, छत्तीस लक्षण और तेंतीस अलङ्कार होने चाहिये। पांच से दस ... अङ्क होने चाहिये। इसका नायक धीरोदात्त, कुलीन, प्रतापी और दिव्य अथवा अदिव्य हो। शृंगार, वीर अथवा करुणरस की इस में प्रधानता हो। और संधि में अद्भुत रस आना चाहिए। जैसे शकुन्तला, उत्तर राम चरित आदि (२) प्रकरण—इसमें सब बातें प्रायः नाटक की सी ही होती हैं, अन्तर केवल यही है कि, इसकी कथा बहुत उन्नत नहीं होती और इसका विषय कल्पित होता है, किसी पुराण आदि से नहीं लिया जाता। इस में शृंगार रस प्रधान रहता है। (३) भाण-इस में धूर्तों और दुष्टों का चरित्र रहता है और इस से दर्शकों को खूब हँसाया जाता है। इस में कोई व्यक्ति अपने अथवा दूसरों के अनुभव की बातें आकाश की ओर मुँह उठा कर कहता और आप ही उन बातों का उत्तर भी देता चलता है। (४) व्यायोग—यह वीररस-प्रधान होता है और इस में स्त्रियां बिलकुल नहीं अथवा बहुत कम होती हैं। इसमें एक ही अङ्क होता है और आदि से अन्त तक एक ही कार्य्य या उद्देश्य के

सब क्रियाएँ होती हैं, और एक ही दिन की कथा का वर्णन होता है। (५) समवकार—इसमें तीन अंक और १२ तक नायक होते हैं और सब नायकों की क्रियाओं का फल पृथक पृथक होता है। इसमें वीररस प्रधान होता है। (६) डिम—यह समवकार की अपेक्षा अधिक भयानक होता है। इसमें चार अंक और १६ तक नायक होते हैं जो प्रायः दैत्य, राक्षस, गंधर्व, भूत प्रेत आदि होते हैं। इसमें अद्भुत और रौद्ररस प्रधान होते हैं। (७) ईहामृग—इसमें एक धीरोदात्त नायक और उसका प्रतिपक्षी एक प्रति नायक होता है। दोनों एक दूसरे का अपकार करने का यत्न करते हैं। नायिका के लिये उनमें परस्पर युद्ध भी होता है। नायक को नायिका तो नहीं मिलती, पर वह मरने से बच जाता है। (८) अङ्क—यह करुण रस प्रधान होता है और इसमें स्त्रियों के शोक का विशेष वर्णन रहता है। इसमें एक ही अङ्क होता है। (९) वीथी—यह भाण से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है और इसमें एक ही अंक तथा एक ही नायक होता है। इसमें शृंगाररस तथा विनोद और आश्चर्यजनक बातों की प्रधानता रहती है। (१०) प्रहसन—यह भी प्रायः भाण से मिलता जुलता होता है और इसमें कल्पित निंद्य लोगों का चरित्र दिखाया जाता है। यह हास्य-रस-प्रधान होता है, पर इससे लोगों को उपदेश भी मिलता है।

उपरूपक।

उपरूपक के हमारे यहां १८ भेद माने गए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश, और

भाषिका। हमारे यहां के आचार्यों ने केवल नाटक के काम के लिये नायकों और नायिकाओं के अनेक भेद किए हैं और वृत्तियां, अलंकार तथा लक्षण आदि भी अलग नियत किए हैं। उन्होंने यह भी बतलाया है कि, किन पात्रों को किन भाषाओं का प्रयोग करना चाहिए और किसे किस प्रकार संबोधन करना चाहिए। हमारे यहाँ यह भी निर्णय किया गया है कि कौन २ दृश्य रंग-शाला में नहीं दिखलाने चाहिए। उन दृश्यों का निर्णय पहले किया जा चुका है।

दसवां अध्याय।

भारतीय रङ्गशाला और नेपथ्य रचना।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक प्रो० विल्सन ने एक स्थान पर लिखा है कि, "प्राचीनकाल के भारतवर्ष में नाटकों का अभिनय व अन्य प्रयोग करने के लिये नाटक गृहों की कोई भी सुव्य-वस्थित योजना न थी।"

विल्सन साहब यदि हमारे प्राचीन नाट्य ग्रन्थों को देखने का कुछ कष्ट करते तो हमारा विश्वास है कि, उनकी लेखनी से कदापि ऐसे भ्रम पूर्ण शब्द न निकलते। हम नीचे संक्षिप्त रूप में यह बतलाने की कोशिश करेंगे कि, प्राचीनकाल में हमारे यहाँ नाटक शालाओं ने कितनी उन्नति करली थी।

अभीतक जितने भी नाट्य-लक्षण ग्रन्थ हमारे यहां मिले हैं, उनमें भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही सब से अधिक प्राचीन समझा जाता है। अधिक नहीं तो कम से कम इसे दो हज़ार वर्ष का प्राचीन तो प्रायः सभी लोग मानते हैं। इसी नाट्यशास्त्र के दूसरे अध्याय में प्रेक्ष गृहों (रङ्गशालाओं) का विवेचन

किया गया है। जिसका सार हम नीचे दे देते हैं।

नाट्य शास्त्र के अन्दर रङ्गशालाओं के तीन भेद किये गये हैं। (१) विकृष्ट (२) चतुरस्त्र (३) त्र्यश्र। इनमें से "विकृष्ट" रङ्गशाला को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ माना है। इस की लम्बाई १०८ हाथ होती है। उसके पश्चात् दूसरे नम्बर में उन्होंने "चतुरश्र" रङ्गशाला को माना है। इसकी लम्बाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होती है। त्र्यश्र प्रेक्षगृह को उन्होंने तीसरी श्रेणी का माना है। यह त्रिभुजाकार होता है। विकृष्ट प्रेक्ष गृह देवताओं के लिये चतुरश्र राजा, श्रीमान्, और साधारण जनता के लिए, और त्र्यश्र आपस के कुछ थोड़े से मित्रों के निमित्त बनाया गया है। इन सब रङ्गशालाओं में आधा स्थान अभिनय के लिए और आधा दर्शकों के लिए होना चाहिए। रंगमंच की दीवारों और स्तम्भों पर तरह २ की चित्रकारी नक्काशी आदि बेलबुटों के काम होना चाहिए। तथा स्थान स्थान पर वायु और प्रकाश आने के लिये उसमें झरोखे और खिड़कियों का होना आवश्यक है। रङ्गालय की बनावट इस ढङ्ग की हो जिसमें आवाज़ खूब अच्छी तरह गूँज जाय। उत्कृष्ट रंगमंच में दो खण्ड भी होते हैं। नीचे वाले खण्ड में मर्त्यलोक का और ऊपर वाले खण्ड में स्वर्गलोक का दृश्य दिखाया जाय। दर्शकों के बैठने का स्थान चार खण्डों में विभक्त कर देना चाहिए। सब से आगे का स्थान ब्राह्मणों के लिए रक्षित रहे, उसके पीछे क्षत्रियों के लिए होना चाहिये, निशान के लिये बीच में सफ़ेद खम्भे गाड़ देना चाहिए। क्षत्रियों के पीछे लाल रङ्ग के खम्भे गाड़ कर उनके उत्तर पश्चिम में वैश्यों के लिये और उत्तर पूर्व में शूद्रों के लिये स्थान हो। इनके निशान के लिये पीले और नीले खम्भे होने

चाहिए । कुछ स्थान अन्य जातियों के लिये भी सुरक्षित रहना चाहिए । रङ्गमंच का सब से पिछला भाग "रङ्गशी" कहलाता है। छः खम्भों पर बना होता है। इसमें नाट्य-शास्त्र के देवता ब्रह्मा का पूजन होता है। इसमें से नेपथ्य गृह में जाने के लिये द्।द्वार बने होते हैं।

आगे चलकर उसी नाट्य-शास्त्र के चौंतीसवें अध्याय। में रङ्गभूमि के पात्रों की पोशाक के विषय में भरत मुनि कहते हैं:—

तदेव सर्वं सम्पन्नं नाट्य में तन्मया कृतम् ।
वर्णं कैच्छादि तस्तत्र भूषणै श्चाप्फलं कृतः । ७८ ।
गांभीर्यौदार्यं सम्पन्नो राज वत्तु भवेन्नटः ।
सप्त द्वीपा श्राश्चैव मध्यमे को नटो भवेत् । ७६ ।
वर्णं कैच्छादितेनेह कार्यं स्वथ विचेष्टितम् ।
आचार्य्यं बुद्धया शास्ताच सौण्ठवांग पुरस्कृतः । ८० ।
राजवद् भरत स्स्त स्मात् राजापि नटवद् भवेत ।
यथा नटस्तथा राजा यथा राजा तथा नटः । ८१ ।
उभाभ्यां भाव सम्पत्तिः सम लीलाङ्ग सौण्ठवा ।
यथा ऽऽ चार्योपदेशेन रङ्ग शोभी भवेद् नटः । ८२ ।
एवं स्वभावतो राज्ञा नित्यमे वोङ्गतो भवेत ।
स्त्रियानां यः परिवारः पार्थिवाना भवेदिह । ८३ ।
नाटके संप्रयोक्तव्यो वेष भाषा क्रियान्वितः ।
यादशं यस्य यद् रूपं प्रकृत्या तस्य तादशम । ८४ ।
वेषे वेष विधानेन कर्त्तव्यं च प्रभुं पुनः ।
एवं राजोपचारेषु कार्यः पुरुष संग्रह । ८५ ।

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि, हमारे प्राचीन आचार्यों ने रङ्गशाला एवम् अभिनय के विषय में कितनी उन्नति की थी। और भी देखिये, "सङ्गीत रत्नाकर" में रङ्गशालाओं का वर्णन कितने उत्तम ढङ्ग से किया गया है,

विचित्रा नृत्यशाला स्यात् पुष्प प्रकर शोभिता।
नाना वितान संपन्ना राज स्तंभ विभूषिता। १३५१।
तस्यां सिंहासनं रम्य मध्यासीनः सभापति।
वामतोन्तः पुराणि स्युः प्रधाना दक्षिणेन तम्। १३५२।
पृष्ठ भागे प्रधानानां कोशः श्रीकरणा धिपः
तत्संनिधौ तु विद्वांसो लोकवेद विशारदः। १३५३।
रसिका कवयोप्यत्र चतुराः सर्व रीतिषु।
प्राज्ञाश्च ज्योतिर्विदो वैद्यान् विद्वन्मध्ये निवेशयेत्। १३५४।
स्याद् वामे तर भागे तु मंत्रिणां परिमण्डलम्।
तत्रैव सैन्य मान्यानामभ्येषा मुपवेषनम्। १३५५।
विलासिनो विलासिन्यः परितोन्तः पुराणिच।
पुरतोऽपि नृपस्य स्युः पृष्ट भागे तु भूपतेः। १३५६।
चारु चामर धारिण्यो रूप यौवन सम्भृताः।
स्वकङ्कण झणत्कार निर्धाण जन मानसा। १३५७।
अग्रिमा वाम भागे स्युरग्रे वाग् मेय कारकाः।
कथका वन्दिनश्चात्र विद्यावन्तः प्रियम्वदाः। १३५८।
प्रशंसा कुशलाश्चान्ये चतुराः सर्व मातृषु।
ततः परंतु परितः परिवारो प वेशनम्। १३५९।
अधिष्ठितं सदः कार्य्यं दक्षैर्वीर धरैर्नरैः।
अङ्ग रक्षा स्तु तिष्ठेयुः सर्वतः शास्त्रं पाणयः। १३६०।

भारतीय नाटकों की विशेषता।

भारतवर्ष प्राकृतिक-सौन्दर्य का एक पुनीत तीर्थ स्थान है, इस बात को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। प्रकृति के इस केलि-निकेतन में सब प्रकार की हवा; सब प्रकार की बनस्पति, सब प्रकार की रुचि के अन्न, सब प्रकार की धातु, और नाना प्रकार के रमणीय दृश्य देखने को मिलते हैं। यहांपर बसन्त से लेकर हेमन्त तक ही ऋतुएँ रमणीय सौन्दर्य्य से मन को मोहित करती हैं। पहाड़, नदी, झरने आदि प्राकृतिक दृश्य यद्यपि संसार के और २ देशों में भी पाये जाते हैं, पर यहां के दृश्यों की छटा कुछ दूसरी ही है। प्रकृति के इन्हीं रमणीय दृश्यों में से उन ऊँचे दर्शन शास्त्रों, और तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों का उद्भव हुआ है, जिनकी मीठी सौरभ से आज भी सारा जगत् सुरक्षित हो रहा है। इन्हीं रमणीय दृश्यों के अन्दर बैठकर हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने जगत् के पास उस अध्यात्मिक सन्देशे को भेजा था, जिसे आज भी सारा जगत् ध्यान पूर्वक मनन करता है। कहने का मतलब यह कि, हमारे यहां प्राचीन काल में इस प्रकार के रमणीय दृश्यों का बहुत महत्त्व समझा जाता था। ब्रह्मचारी इन्हीं दृश्यों में प्रारंभिक शिक्षा पाते थे, गृहस्थ इन्हीं दृश्यों के अन्दर ऋषि मुनियों से उपदेश ग्रहण करने आते थे। और वानप्रस्थ एवम् सन्यासियों के तो निवास स्थान ही इन दृश्यों में रहते थे। जब हमारे जीवन के साथ इस प्राकृतिक सौन्दर्य का इतना घना सम्बन्ध था, तो यह बात बिलकुल स्वाभाविक है कि, उस समय के नाटकों में अथवा काव्यों में भी ऐसे दृश्यों का विस्तृतविवेचन हो। वास्तविक दृष्टि से तो यदि देखा जाय तो भारतीय नाटकों की विशेषता ही इस प्रकार

के रमणीय दृश्यों का हूबहू चित्र खींचने में है। सृष्टि सौन्दर्य्य के वर्णन में संस्कृत नाटककारों ने जो कमाल हासिल किया है, वह दुनिया के किसी भी देश के किसी भी नाटककार ने हासिल नहीं किया। उन्होंने वाह्य प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म दृश्य का ऐसा स्वभाविक चित्र खींचा है, जिसे देखकर आश्चर्य्य हुए बिना नहीं रहता, यह तो ठीक है। लेकिन इस कथन से यह नहीं कहा जा सकता कि, वे अपने नाटकों में केवल वाह्य प्रकृति का चित्रण करके ही चुप हो गये हैं। यह कहना उनके प्रति सरासर अन्याय करना होगा। संस्कृत नाटकों का महत्त्व वाह्य प्रकृति के चित्रण में अधिक है, इस बात को स्वीकार करते हुए भी हमें यह निर्विवाद मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने मनुष्य के अन्तर्जगत् को भी टटोला है—और खूब टटोला है। वल्कि किसी २ कवि ने तो वाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के रहस्य को मथ कर, उनका सामञ्जस्य दिखलाते हुए जिस अपूर्व कषायामृत की सृष्टि की है, वह अतुलनीय है।

मतलब यह कि, भारतीय कवि दोनों प्रकार की प्रकृतियों के चित्रण करने में सिद्धहस्त थे। चूंकि, अन्तर्जगत् का चित्रण करने में उनकी ही टक्कर के नाटककार अन्य देशों में भी हुए हैं, इसलिए इस विषय में वे अद्वितीय नहीं कहे जा सकते। पर वाह्य जगत् का चित्रण उनके मुकाबिले में संसार का कोई कवि नहीं कर सका है, इसलिये इस विषय में वे बिलकुल अद्वितीय हैं।

प्राचीन काल के ग्रीक साहित्य में भी नाट्य-कला की खूब उन्नति हुई थी। परन्तु फिर भी वह संस्कृत साहित्य के मुकाबिले में किसी प्रकार नहीं ठहर सकता। संस्कृत नाटकों में ग्रीक नाटकों की अपेक्षा निम्न लिखित विशेषताएं पाई जाती हैं—

(१) संस्कृत नाटक शास्त्र में नौ प्रकार के रस माने गये

हैं। शृंगार, वीर, करुणा, हास्य, अद्भुत, शान्त, विभत्स, भयानक और रौद्र।

(२) संस्कृत नाटकों में शृंगार इन्द्रिय विशिष्ट भावना जनक नहीं है। अर्थात् विषय वासना आदि से उसकी उत्पत्ति न होकर केवल शुद्ध एवं निर्मल प्रेम से होती है। ग्रीक और लेटिन भाषा के सुखान्त नाटकों में इस प्रकार का शुद्ध शृंगार नहीं पाया जाता।

(३) संस्कृत नाटकों में वीररस विवेकहीन नहीं होता। प्रत्युत प्रशान्त होता है।

(४) स्त्री पात्रों के हृदय का सूक्ष्म विश्लेषण करने में संस्कृत नाटककार अद्वितीय हैं।

(५) कथा भाग के अनुसार नाटकों में अंकों के विभाग करने की प्रथा ग्रीक लोगों में बिलकुल न थी।

(६) नाट्य-कला के इस नियम को कि छोटे उद्देश्य से बड़ा परिणाम निकाला जाना चाहिए, संस्कृत नाटककारों ने कहीं भी अवहेलना नहीं की है। यह विशेषता संस्कृत के प्रायः अधिकांश नाटकों में पाई जाती है।

ग्यारहवां अध्याय

पौर्वात्य और पाश्चात्य नाटक और उनकी आदर्श-विभिन्नता

पहले खण्ड में हमनें कई स्थानों पर प्रसङ्गवशात् पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य की आदर्श-विभिन्नता का जिक्र किया है। हमने बतलाया है कि, दोनों साहित्यों के बीच में जो इतना अन्तर पाया जाता है, उसका एक मात्र कारण

वहां की और यहां की सामाजिक विभिन्नता है। सब से बड़ी विभिन्नता जो दोनों समाजों के बीच में पाई जाती है यह है कि, हिन्दू समाज हमेशा से महत् चरित्र (सतोगुण मयी) का उपासक रहा है, वह विराट् चरित्र को (रजो गुण और तमोगुण मय) और हमेशा से उपेक्षा मयी दृष्टि से देखता आया है। लेकिन यूरोपीय समाज को विराट् चरित्र ही हमेशा से अधिक प्रिय रहा है। हिन्दू समाज अध्यात्मिक बाद के सम्मुख भौतिक बाद को हमेशा से हेय मानता आया है, वह सत्य के सम्मुख सम्पत्ति को नैतिक क्षमता के सम्मुख पार्थिव क्षमता को और क्षमा के सम्मुख प्रतिहिंसा को हमेशा से तुच्छ समझता है, पर यूरोपीय समाज में यह बात नहीं है, वह अध्यात्मिक बाद के स्थान पर भौतिक बाद का ही अधिक उपासक है। वह प्रतिहिंसा के आगे क्षमा का कुछ भी महत्व नहीं समझता, पार्थिव क्षमता के सम्मुख नैतिक क्षमता भी अधिक कद्र नहीं करता। यही कारण है कि, भारतीय आदर्श और यूरोपीय आदर्श परस्पर टक्कर नहीं खाते, उनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक पाया जाता है।

समाज सम्बन्धी उपरोक्त छोटी सी आलोचना करने से हमारा मुख्य मतलब यह है कि, हम पाठकों के आगे साहित्य सम्बन्धी विभिन्नताओं को बहुत ही सरल रूप से रख सकें। क्योंकि साहित्य समाज का ही एक चित्र है, सामाजिक विभिन्नताओं का साहित्य में दृष्टि गोचर होना अवश्यम्भावी है। इसी बात को हम आगे चलकर दोनों साहित्यों की तुलना करते हुए प्रतिपादित करने की कोशिश करेंगे।

समाज की इसी विभिन्नता के कारण यहां के और वहां के

कवियों के चरित्र चित्रण में भी बहुत अन्तर आ गया है। पाश्चात्य कवि जिस सृष्टि के विधाता हैं, प्राच्य कवि उससे दूर रहना ही अधिक पसन्द करते हैं। पाश्चात्य कवि मनुष्य की रज और तमोगुण सम्बन्धी वृत्तियों का चित्र खींचने में अधिक सिद्धहस्त हैं, और पौर्वात्य कवि उसकी सतोगुण सम्बन्धी वृत्तियों के चरित्र चित्रण में ही संलग्न हैं। पाश्चात्य कवि बतलाते हैं कि, संसार में स्वर्ग की अपेक्षा नरक का भाग अधिक है, पुण्य की अपेक्षा पाप बलवान है, पर पौर्वात्य कवि ठीक इसके विरुद्ध संसार का स्वर्ग मय चित्र खींचने में ही लीन हैं, वे संसार के उस उज्ज्वल सौन्दर्य का वर्णन करने में निपुण हैं, जो माता के स्नेह में, भक्त भक्ति में, सती के प्रेम में और मनुष्य की अनुकम्पा में पाया जाता है। पाश्चात्य सृष्टि के विधायकों में हम मिल्टन, शेक्सपियर आदि कवियों के नाम ले सकते हैं, और पौर्वात्य सृष्टि के विधायकों में बाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि का। पाश्चात्य कवि नरक और उसकी यंत्रणा के सृष्टि कर्त्ता हैं, और पौर्वात्य कवि स्वर्ग और उसकी सम्पत्ति के। शेक्सपियर ने जिस प्रकार मनुष्य के काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, द्वेष आदि दुष्प्रवृत्तियों की प्रबलता का चित्र खींचा है, वहां पौर्वात्य कवियों ने प्रेम, दया, क्षमा, स्वार्थ त्याग आदि मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों का उज्वल चित्र खींचा है। शेक्सपियर जहां रक्तपात से प्रेम करते हैं, और विजय का प्रधान साधन प्रतिहिंसा को ही बतलाते हैं वहां आर्य्य कवि रक्तपात से घृणा करते हैं, और क्षमा को ही विजय का प्रधान साधन बतलाते हैं। शेक्सपियर जहां पार्थिव सुख को ही वास्तविक सुख समझते हैं, वहां आर्य्य कवि पार्थिव सुख से उत्कृष्ट एक और

सुख की योजना (अध्यात्मिक सुख) करके उसी में लीन हो जाते हैं। शेक्सपियर जिस समय सुख की खोज में इस पृथ्वी पर भ्रमण करते हैं उस समय आर्य्य कवि मानों आकाश में उनसे बहुत ऊपर-सुख के नन्दन कानन में विचरण करते हैं। दोनों में कौन सच्चे हैं, और कौन स्वाभाविक चरित्र चित्रण करने में सिद्ध हस्त हैं, इसका निर्णय करना हमारा काम नहीं। पर हां, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि, अपने २ ढङ्ग से दोनों ही सच्चे हैं। दोनों ही में चरित्र चित्रण की अद्भुत शक्ति पाई जाती है।

पाश्चात्य संसार में आप अधिकतर दुःखान्त (Tragedy) नाटकों की ही भरमार देखेंगे। सर्वश्रेष्ठ नाटककार शेक्सपियर के भी अधिकांश नाटक प्रायः दुःखान्त ही हैं। इसका कारण भी प्रायः उपरोक्त ही है। पाश्चात्य कवि जिस आसुरी सृष्टि के विधाता हैं, उसका अन्त दुःखमय होना बिलकुल स्वाभाविक है। उन नाटकों में मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को इतना गहरा रङ्ग दे दिया जाता है कि उनका परिणाम प्रायः रक्तपात में परिवर्तित हो जाता है। मेकवैथ नाटक इसका एक उत्तम उदाहरण है। लेडी मेकवैथ का जैसा भयङ्कर चित्र शेक्सपियर ने अङ्कित किया है, सचमुच वह स्वाभाविकता से बहुत नीचे चला गया है संसार में भयानक स्वाभाव वाली हजारों स्त्रियां पाई जाती हैं पर लेडी मैकवैथ के समान भयङ्कर स्त्रियां उनमें भी बिरली ही मिलेंगी। इसी प्रकार उनके उथेलो और इयागो, रोमियो और जूलियट, ब्रूटस और रिचर्ड साधारण जन समाज में बहुत ही अल्प संख्या में मिलेंगे।

हमारे आर्य्य साहित्य में ऐसे लोगों को जिन्होंने भौतिक

उन्नति अथवा ऐश्वर्य्य के लिये अपने मनुष्यत्त्व को छोड़ दिया है या जिन्होंने काम वासना के लिये संयम का, स्वार्थ के लिये कर्त्तव्य का, और लालसा के लिये प्रेम का बलिदान कर दिया है "दानव" संज्ञा से सम्बोधित किया है। इस प्रकार के चित्रों की भी हमारे आर्य्य साहित्य में कमी नहीं। पर यूरोपीय समाज जिस आदर की दृष्टि से इन चित्रों को देखता है, उस दृष्टि से हमारा भारतीय समाज नहीं देखता।

उदाहरणार्थ महर्षि व्यास द्वारा चित्रित दुर्योधन के चित्र में भी कई यूरोपीय वीरों के चित्रों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। भोग वासना बढ़ते बढ़ते किस प्रकार मनुष्य को अपने चंगुल में फंसा लेती है अथवा लोभ के वशवर्ती होकर किस प्रकार मनुष्य अपने भाइयों को सुई की नोक के बराबर भी जमीन देने से इन्कार करता है, इसका स्पष्ट चित्र दुर्योधन के चित्र में खींच दिया गया है। इसीप्रकार इन्द्रिय लालसा और काम वासना मनुष्य को कितना पतित और कर्त्तव्य भ्रष्ट कर देती है उसका मूर्तिमान चित्र रावण में अङ्कित कर दिया गया है।

ये चित्र अङ्कित अवश्य कर दिये गये हैं, पर चित्रकारों की कलम केवल इन चित्रों को अङ्कित करके ही चुप नहीं हो गई है। प्रत्युत जन समाज में उन चित्रों के प्रति घृणा पैदा करने के लिये उन्हीं के पार्श्व में चरित्र की उज्वल मूर्ति युधिष्ठिर और रामचन्द्र के चित्र भी अङ्कित कर दिये गये हैं। और इन महत् चरित्रों के द्वारा उन विराट् चरित्रों की पराजय बतलाकर जनता के हृदय में महत् चरित्रों के प्रति श्रद्धा और विराट् चरित्रों के प्रति घृणा उत्पन्न होने का साधन बना दिया है। यूरोपीय कवियों में यह बात नहीं है। उनमें पाप की ही विजय अधिक-

तर दिखलाई गई है। उन के सर्व श्रेष्ठ नाटक हेम्लैट के अन्त में, पापिष्ठा रानी की, हेम्लैट के चचा की और हेम्लैट की एक साथ मृत्यु हो जाती है। पाप और पुण्य, न्याय और अन्याय, एक तराजू में तौल दिये गये हैं। सच्चरित्र हेम्लैट की प्रतिहिंसा अधूरी रह जाती है। और दुश्चरित्रा रानी और राजा को भी उनके पाप का यथोचित दण्ड नहीं मिलता। फल इसका यह होता है कि, रङ्गशाला से बाहर निकलकर दर्शक अपने हृदय में सद्भावनाओं को लेकर नहीं आते। यही कारण है कि, स्वयं यूरोप के भी कई सहृदयों में इस प्रकार की ट्रेजिडी की बड़ी निन्दा की है। लेडी मैकवैथ के विषय में (Schlegel) श्लिगल लिखते हैं कि लेड़ी मैकवैथ एक राक्षसी (Female infury) है। क्योंकि वैसी विश्वासघातकता, वैसी निर्दयता केवल राक्षसी में ही सम्भव है। इसी प्रकार एडिसन वगैरह और भी कई लोगों ने कहा है।

हमारे आर्य्य कवियों ने इससे ठीक उलटा मार्ग पकड़ा है। यह बात नहीं है कि, वे मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों का चित्र खींच ही नहीं सकते थे, प्रत्युत उन्होंने जान बूझ कर ऐसा करना अनुचित समझा। वे जानते थे कि, इस प्रकार के चित्रों से समाज में अशान्ति और दुराचार का फैसला सम्भव है। इसीलिये कुत्सित चित्रों की जगह सुन्दर चित्रों को खींचना ही उन्होंने अधिक उपयोगी और श्रेयस्कर समझा। इसी के फल स्वरूप हमारे साहित्य में लेड़ी मैकवैथ, क्लिओयेट्रा, रीगान, गनोरिल आदि के स्थान पर सीता, सावित्री, दमयन्ती, और शकुन्तला के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। यह बात नहीं है कि, पाश्चात्य कवियों ने इस प्रकार सौन्दर्य्य की सृष्टि ही नहीं की। नहीं उनके काव्यों में

भी मिराण्डा, रोसिलिण्ड, इस्साबेला, डेस्डिमोना के समान पवित्र चित्र पाये जाते है; पर मानसिक सौन्दर्य की सृष्टि में वे आर्य्य कवियों से हार गये हैं। उनकी मिराण्डा शकुन्तला का मुकाबिला नहीं कर सकती। इसी प्रकार दुष्प्रवृत्तियों के चरित्र चित्रण में पाश्चात्य कवि आर्य्य कवियों से बहुत आगे बढ़ गये हैं।

पाश्चात्य साहित्य के कुछ पक्षपाती इस विवाद से चिढ़कर कहते हैं कि, नाटककार का मुख्य उद्देश्य वास्तविक मनुष्य प्रकृति को अंकित करने का रहता है। पाश्चात्य कवियों ने उसी मनुष्य प्रकृति का यथार्थ चित्र खींचा है; और आर्य कवियों ने अति मानुषिक चित्र खींचने में ही अधिक सफलता प्राप्त की है। उनकी शकुन्तला और दुष्यन्त, राम और सीता इस संसार के चित्र नहीं, प्रत्युत किसी दूसरी ही सृष्टि के चित्र हैं।

उत्तर में हम यही निवेदन करना चाहते हैं कि, राम और सीता, शकुन्तला और दुष्यन्त यदि इस सृष्टि के चित्र नहीं है तो लेडी मेकवैथ, और लार्ड मैकवैथ रीगान और गनोरिल, रोमियो और जूलियट भी इस सृष्टि के नहीं हैं। यदि पहिले चित्र स्वर्ग के हैं तो दूसरे नरक के होना चाहिए। आधुनिक संसार की एक लाख स्त्रियों में यदि शकुन्तला नहीं मिल सकती तो लेडीमैकवैथ भी नहीं मिल सकती। ये तो दोनों ही अति मानुषिक हैं। यदि आधुनिक संसार में कण्व ऋषि दुर्लभ हैं तो प्रस्पेरो भी सुलभ नहीं हो सकते। यदि शकुन्तला दुर्लभ है तो मिराण्डा भी सुलभ नहीं हो सकती। और यदि दुष्यन्त दुर्लभ हैं तो फ़र्डिनण्ड भी सुलभ नहीं हो सकते। मतलब यह है कि, यदि संसार में सुलभ हो सकते हैं तो ओथेलो और

पाश्चात्य दोनों ही चित्र सुलभ होंगे। और यदि दुर्लभ होंगे तो दोनों ही। हम यह पहले ही लिख आए हैं कि, संसार में जो साधारण घटनाएँ नित्य प्रति हुआ करती हैं नाटकों में उनका कुछ जोरदार रूप से वर्णन रहता है। यदि घटनाओं का जैसा का तैसा वर्णन कर दिया जाय तो फिर दर्शकों को आनन्द ही कैसे आ सकता है। इस नियम की उपेक्षा न पौर्वात्य कवि ही कर सकते हैं, न पाश्चात्य कवि ही, और इसी कारण दोनों के चित्रों में कुछ कुछ अति मानुषिकता झलकती है।

इतने विवेचन से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि, हम पौर्वात्य कवियों की तुलना में पाश्चात्य कवियों को नीचा दिखलावें। नहीं, हम तो पहले ही कह आए हैं कि, दोनों देशों के कवि अपने अपने ढङ्ग से अच्छे हैं, उनकी रचनाओं में जो विभिन्नता पाई जाती है इसका कारण उनकी लेखनी नहीं प्रत्युत वहां का समाज है। महत् चरित्र के उपासक होने से हमारे काव्यों में पहले रामचंद्र की महत्ता का दिग्दर्शन करवाया जाता है, और उसके पश्चात् रावण का विराट् चरित्र आँखों के आगे आता है, और तत्काल ही महत् चरित्र की टक्कर से विराट् चरित्र चूर चूर हो जाता है। जिससे हमारे हृदय में महत् के प्रति श्रद्धा और विराट् के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। पर विराट् के उपासक होने से पाश्चात्य साहित्य में इस प्रकार के चित्र नहीं आते। उनके नाटक के प्रारम्भ में ही क्लियोपेट्रा के रूप और सौन्दर्य को देखकर हमारा मन मोहित हो जाता है। लेडी मैकबैथ को देखते ही हमारे हृदय में प्रबल लोभ का उदय हो जाता है। ये प्रवृत्तियें इतनी लोभनीय हो उठती हैं कि, फिर "आक्टेवियस" "बैंकों" और "मेकडफ़" के पवित्र

चित्र भी उनको दूर नहीं कर सकते। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलालराय ने इस विषय पर संक्षिप्त में अच्छा प्रकाश डाला है, उसे ज्यों का त्यों उद्धृत कर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे—

"तथापि शेक्सपियर ने ऐसा क्यों किया? इस का कारण मेरी समझ में यह है कि, वे धन और क्षमता का गर्व रखने वाले अंग्रेज थे। पार्थिव क्षमता ही उनके निकट अत्यन्त लोभनीय पदार्थ थी। वे महत् चरित्र की अपेक्षा विराट् चरित्र में अधिक मुग्ध होते थे। विराट् क्षमता, विराट् बुद्धि, विराट् विद्वेष, विराट् ईर्षा, विराट् प्रतिहिंसा, और विराट् लोभ, उनके निकट अत्यन्त लोभनीय वस्तुएँ थीं। निरीह शिशु, पर दुःख कातर बुद्धदेव या भक्त चैतन्यदेव जान पड़ता है, उनके मतानुसार अत्यन्त क्षुद्र चरित्र हैं। यह बात नहीं है कि, वे स्वार्थ त्याग के महत्व को बिलकुल समझते ही न थे, किन्तु उन्होंने क्षमता और बाहर का भड़कीलापन दिखाकर चरित्र महात्म्य को उसके नीचे स्थान दिया है।"

"पूर्व भूखण्ड के कविगण धर्म की महिमा से महीयान थे। उनकी दृष्टि में धर्म का ही महत्व सब से बढ़कर था। यह बात नहीं है कि, वे क्षमता के मोह में बिलकुल पड़ते ही न थे। किन्तु चरित्र का महात्म्य उन्हें अधिक प्रातिप्रद था।

बारहवां अध्याय

कालिदास और शेक्सपियर।

गत अध्याय में हमने व्यापक रूप से पौर्वात्य और पाश्चात्य नाटककारों की आदर्श विभिन्नता का विवेचन किया है। अब इस अध्याय में हम संसार के दो सब से बड़े कवि, नाटक जगत् के दो सम्राटों पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालने का प्रयत्न करेंगे। इन दो में से पहले शेक्सपियर और दूसरे कालिदास हैं। पहले पाश्चात्य नाट्य साहित्य के सम्राट् और दूसरे पौर्वात्य नाट्य जगत् के अधिराज हैं। दो में से कौन बड़ा है और कौन छोटा, इसका निर्णय करना हमारा काम नहीं। हमारी दृष्टि से दोनों ही बड़े हैं-दोनों ही अद्भुत हैं-दोनों ही प्रकृति ज्ञान के अगाध भण्डार हैं। हमारा कार्य केवल दोनों के सौन्दर्य को संक्षिप्त रूप से बतलाने का है।

आगे बढ़ने के पहले हम पाठकों के आगे इन दोनों कवियों की एक बड़ी विभिन्नता का विवेचन कर देना उचित समझते हैं। कालिदास और शेक्सपियर एक जगत् के कवि नहीं हैं, उनकी दृष्टियों में बहुत भेद हैं। कालिदास बाह्य जगत् के कवि हैं और शेक्सपियर अन्तर्जगत के। यद्यपि कालिदास ने भी मनुष्य के अन्तर्जगत को खूब टटोला है, यद्यपि इन्होंने मनुष्य प्रकृति के एक २ पहलू का सूक्ष्म विश्लेषण कर डाला है, पर फिर भी इस विषय में शेक्सपियर उनसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। इसी प्रकार यद्यपि शेक्सपियर ने भी बाह्य जगत् का वर्णन स्थान २ पर किया है, पर इस विषय में वे कालिदास की चरण रज का भी मुक़ाबिला नहीं कर सकते।

यदि शेक्सपियर की विशाल कल्पना के आईने में रौद्र, अद्भुत, भयानक, हास्य, आदि स्पष्ट रूप से चमकते हैं, तो कालिदास की महती कल्पना में शृंगार, करुणा, शान्त, आदि रसों की धाराएँ शतधा और सहस्रधा होकर प्रवाहित हो रही हैं। शेक्सपियर ने अपने नाटकों में सुन्दर और कुत्सित दोनों प्रकार के चित्रों को चित्रित किया है। पर कालिदास केवल सौन्दर्य के कवि हैं। कुत्सित को उन्होंने स्पर्श भी नहीं किया है। और यदि कहीं किया है तो उनकी महती कल्पना के प्रकाश से वह भी सुन्दर हो उठा है। ऋषि कन्या शकुन्तला, छलिनी उर्वशी और तपस्विनी पार्वती उसकी कल्पना के नमूने हैं।

यदि कालिदास की कल्पना शक्ति आकाश की तरह विस्तीर्ण और स्फटिक की तरह निर्मल है, तो शेक्सपियर की कल्पना शक्ति समुद्र की तरह गहरी, और चन्द्रमा की तरह (घटने बढ़ने वाली) स्वाभाविक है। ओफेलिया और कैथरिन, टाइमन और रिचर्ड, क्लियोपेट्रा और डेस्डिमोना, लेडी मैकबैथ और पोर्शिया आदि सब कुत्सित और सुन्दर चित्र उसकी विशाल कल्पना के अधिकार में हैं। चाहे एरियल हो चाहे पक चाहे डाकिनियों की टोली हो चाहे अप्सराओं का समूह सब उसकी विश्वविजयिनी कल्पना की आज्ञा में हैं।

फिर भी, सौन्दर्य के नन्दन कानन की रचना करने में शेक्सपियर कालिदास के स्थान २ पर पराजित हुए हैं। शेक्सपियर ने भी नन्दन कानन की सृष्टि की है पर उस कानन के प्रत्येक पुष्प में, पुष्प की प्रत्येक कली में, और कली के प्रत्येक पराग में कितना मुग्ध का सौन्दर्य्य है इसको कालिदास के सिवा जगत् का कोई भी दूसरा कवि नहीं दिखला सकता। सौन्दर्य

के सूक्ष्म तत्वों के विश्लेषण में शेक्सपियर और कालिदास की तुलना हो ही नहीं सकती। जिन रमणीय उप करणों से, जिन सौन्दर्य्य के एसेन्स से, जिस पारिजात की सुगन्ध से, और जिस इन्द्रधनुष की छटा से शकुन्तला की सृष्टि हुई है, वह शेक्सपियर की विश्व विजयिनी कल्पना से भी बाहर है। शेक्सपियर ने भी मिराण्डा को सजाने की बहुत चेष्टा की है। फिर भी पाश्चात्य कवि की मिराण्डा ने पौर्वात्य कवि की शकुन्तला के आगे अवश्य सिर झुका लिया है। सौन्दर्य के जो गूढ़ तत्व, मनुष्य प्रकृति का जो सूक्ष्म विश्लेषण, नारी हृदय की जो स्वाभाविक रमणीयता शकुन्तला के अन्दर पाई जाती है वह मिराण्डा में कहां। स्त्री सौन्दर्य्य के चरित्र चित्रण में कालिदास सचमुच अपनी सानी नहीं रखते।

इसी विषय को प्रतिपादित करते हुए देखिये एक फ्रेन्च लेखक क्या लिखता है:—

"जान पड़ता है कि, कालिदास ने सौन्दर्य के सूक्ष्म और तीक्ष्ण प्रदर्शन में अपने विपक्षी को पराजित कर दिया है। शेक्सपियर जिसको पकड़ने की कौन कहे, छूने तक नहीं पाता ऐसी वस्तु को पकड़ कर कालिदास ने एक अति गम्भीर प्रदेश में से सत्य का उद्धार किया है। वह स्थान ऐसा वैसा नहीं है। वह नारी का हृदय है।"

वाह्य जगत और अन्तर्जगत इन दोनों में जहां भी कहीं सौन्द ` है कालिदास वहीं पहुँच गये हैं। महर्षि कण्व का तपोवन, बहती हुई सुन्दर सरिताएं, प्रकाण्ड हिमगिरी पर्वत, और रमणीय अलकापुरी वाह्य जगत् के सौन्दर्य्य हैं। इनका वर्णन जिस खूबी के साथ कालिदास ने किया है, वैसा और कौन कर

सकता है। इसी प्रकार प्रिया के विरह में यक्ष की और शकुन्तला की विदाई के समय कण्व के हृदय की जो हालत हुई थी, वही मनुष्य के अन्तर्जगत् का सौन्दर्य्य है। कण्व के हृदय में शकुन्तला की विदाई के समय जो आन्दोलन हुआ है उस का कैसा सुमधुर चित्र कालिदास ने खींचा है। इसके अतिरिक्त कालिदास निर्मित शकुन्तला के चित्र को आप आद्योपान्त देख जाइये। उसी एक चित्र में कालिदास ने सारी मनुष्य प्रकृति का कैसा विश्लेषण कर दिया है।

पर जहां पर मनुष्य हृदय के अन्दर दश पन्द्रह सुन्दर और कुत्सित भाव एक साथ उठ खड़े होते हैं, जहां पर मनुष्य को नाना प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियां प्रबल होकर परस्पर लड़ने लगती हैं, उस स्थान पर सम्भवतः कालिदास पार नहीं पा सकते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, शकुन्तला प्रत्याख्यान के समय में कालिदास ने दुष्यन्त के हृदय की विरोधी मनोवृत्तियों का चित्र खींचा है, पर फिर भी इस विषय में शेक्सपियर का मुकाबिला नहीं कर सकते। कालिदास ही क्या मनुष्य की विपरीत वृत्ति समूह के सामञ्जस्य को दिखलाने में शेक्सपियर का मुकाबिला संसार का कोई कवि नहीं कर सकता। मनोवृत्तियों के इस भयंकर युद्ध को स्पष्ट दिखलाने में शेक्सपियर ने कमाल किया है। जहां एक ओर से पाप की स्मृति अनुभव के बोझ से हृदय पर के भावों को और भी भारी करती है और दूसरी ओर वह अपने पापों पर परदा डालने का यत्न करती है। ऐसे अवसरों पर शेक्सपियर कहीं पर एक पद भी नहीं फिसले हैं, फिसलने की कौन कहे कहीं पर वे डगमगाये तक नहीं हैं। एक महारथी की तरह उन्हों-ने अपने कल्पना रथ को मनुष्य की कारा से बाहर प्रकृति पर से

चलाया है पर कहीं पर भी वे असफल नहीं हुए हैं। ऐसे ही स्थानों पर शेक्सपियर की कल्पना का महत्व है।

कालिदास सौन्दर्य्य के कवि हैं। सौन्दर्य्य का पारखी उनके समान दुनिया में शायद ही कोई मिले। पर बात यह है कि, संसार में केवल सौन्दर्य ही सौन्दर्य्य तो नहीं है। केवल सौन्दर्य्य के वर्णन कर देने ही से तो काव्य की इति भी नहीं हो जाती। सौन्दर्य्य अतिरिक्त और भी कई वस्तुएँ काव्य में आपेक्ष्य रहती हैं। जिसमें खासकर दो चीजें अधिक आपेक्ष्य रहती हैं। एक तो विस्मयोत्पादक वस्तु, और दूसरे नवीन वस्तु। इन दोनों बातों की कालिदास में बहुत कमी है। पर शेक्सपियर में इनका प्राचुर्य्य है। उसके नाटकों में नाना प्रकार के मनुष्य-चरित्रों का समावेश है। लेडी मैकबैथ, प्रस्पेरो, आदि कई चित्र ऐसे हैं जो हृदय में विस्मय को उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त हास्य-रस के वर्णन में कालिदास और शेक्सपियर की तुलना हो ही नहीं सकती। कालिदास ने भी हास्यरस की अवतारणा की है, पर शेक्सपियर के हास्य रस के मुकाबिले में वह बिलकुल हीन-प्रद मालूम होती है। शेक्सपियर का "फाल्स्टाफ" अपने ढङ्ग का एक ही पात्र है।

इतना विवेचन किये के पश्चात् शायद् अब इस बात का निर्णय करने में अधिक विलम्ब न लगेगा कि, हृदय की प्रवृत्तियों का वर्णन करते कौन कवि कैसा है। विस्मय कारक भावों का एवं मनुष्य की पाप वृत्तियों का चित्र खींचने में शेक्सपियर अद्वितीय है। हास्य रस का वर्णन करने में भी वह सिद्धहस्त है, इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति के नाना प्रकार के भावों का विश्लेषण करने में शेक्सपियर उस्ताद है। पर सौन्दर्य्य वर्णन

में तथा हृदय वृत्ति की जटिलता और गम्भीरता के विश्लेषण में कालिदास शेक्सपियर से बहुत बढ़ कर है।

यदि रागात्मक प्रेम, मनुष्य की प्रतिहिंसा प्रवृत्ति, और विराट् ममता के चरित्र चित्रण में शेक्सपियर बढ़कर है तो निर्मल प्रेम, रमणीय नारी हृदय, और मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति के चरित्र चित्रण में कालिदास बढ़कर है।

शकुन्तला और टैम्पैस्ट।

कालिदास रचित अभिज्ञान शकुन्तला, और शेक्सपियर रचित टैम्पेस्ट नाटक इन दोनों में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। अतः हम आगे इन दोनों नाटकों के प्रधान पात्रों पर संक्षिप्त में कुछ विवेचन करना उचित समझते हैं।

टैम्पेस्ट नाटक के प्रधान पात्रों में हम प्रस्पेरो, मिराण्डा, फर्डिनण्ड आदि का नाम ले सकते हैं। इन तीनों के स्थान में हमारे शकुन्तला नाटक में कण्व शकुन्तला और दुष्यन्त मौजूद है। किन्नर-कुमार एरियल के समान हमारे यहां मिश्रकेशी मौजूद है। इतना अधिक साम्य होने पर भी दोनों नाटकों के चरित्र चित्रण में बहुत भेद है। इसलिये हम कुछ विस्तार पूर्वक एक २ पात्र की अलग २ तुलना करने का प्रयत्न करेंगे।

महर्षि कण्व, और प्रस्पेरो।

अभिज्ञान शकुन्तला के प्रारम्भ में ही हम महर्षि कण्व के तपोवन का दर्शन करते हैं। पवित्रता के उस निकुञ्ज के दर्शन मात्र से ही हमारी आत्मा प्रफुल्लित हो उठती है। हम देखते हैं कि, उस समय कण्व ऋषि उस आश्रम में नहीं है। पर उनकी

पवित्रता का प्रभाव उस वन के प्रत्येक वृक्ष में, वृक्ष के प्रत्येक पत्ते में और पत्ते के प्रत्येक अङ्ग में भासमान हो रहा है। उनके हृदय की सौम्यता का प्रतिबिम्ब वहां के प्रत्येक प्राणी में पड़ रहा है। उनकी तपस्या के प्रभाव से उस तपोवन में चारों ओर सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता, विचरण करती है। ऋषि कण्व के अनुपस्थिति में भी मानों एक अलक्ष्य प्रतिभा, मानों उनकी उग्र तपस्या का एक अलक्ष्य प्रवाह वहां प्रवाहित हो रहा है। वह प्रभाव ऐसा वैसा नहीं है, उस प्रवाह के सम्मुख दुष्यन्त के समान नरपति को भी सिर झुकाना पड़ता है। जब दुष्यन्त को मालूम होता है कि, सामने ऋषि का तपोवन है तो वह उसी समय रथ पर से उतर पड़ता है, अपने धनुषबाण सारथी को दे देता है। अत्यन्त विनीत भाव से तपोवन की ओर अग्रसर होता है। तपोवन में जाते ही वह देखता है कि पवित्रता और शान्ति की धाराएं अविरल गति से उस आश्रम में बह रही हैं। जगत् के कोलाहल से बिलकुल परे, राग, द्वेष और अशान्ति से बिलकुल शून्य मधुरता के निकेतन उस आश्रम को देखते ही एकबार तो उनके हृदय में पवित्रता का संचार हो आता है। उस के पश्चात् क्या होता है उसकी मिमांसा करने की यहां आवश्यकता नहीं।

यदि इसी से मिलता जुलता दृश्य आप पाश्चात्य जगत् में देखना चाहते हैं तो शेक्सपियर के टेम्पेस्ट नाटक को देखिये। आप देखेंगे कि, चारों ओर दृष्टि से अगोचर असीम सागर लहरें ले रहा है उसके बीच में एक जन शून्य द्वीप है। वहां पर मनुष्य समाज का कोई भी व्यक्ति नहीं रहता। महर्षि के आश्रम में तो उनके शिष्य, शिष्याएं वगैरह दूसरे मनुष्य नज़र भी आते हैं। पर उस जन शून्य द्वीप में प्रस्पेरो और उसकी कन्या

मिराण्डा के सिवा आपको और कोई भी मनुष्य न मिलेगा। वहां पर यदि कोई उस वृद्ध महात्मा के अवकाश-समय के साथी हैं, तो एक तो किन्नर-कुमार एरियल हैं, और दूसरे साथी मछुला के शरीर वाला विचित्र पुरुष कालिबान।

आप देखेंगे कि, टैम्पेस्ट नाटक के प्रस्पेरो बड़े ही कौतुक प्रिय हैं। लेकिन उनकी उस कौतुक-प्रियता से किसी का अनिष्ट नहीं होता। उनका वह कौतुक आकाश से भी अधिक निर्मल और मातृ-स्नेह से भी अधिक पवित्र है। समुद्र में एक जहाज जा रहा है, उसी समय प्रस्पेरो ने सागर को उग्ररूप धारण करने की आज्ञा दी। समुद्र ने उग्ररूप धारण किया। लहरों के तूफान से प्रलय करता दृश्य उपस्थित हो गया। उसके फेर में वह जहाज आ गया। यह देखकर कोमल हृदया मिराण्डा बहुत डरी, उसने कहा "पिताजी! समुद्र को शान्त होने की आज्ञा दीजिये।" प्रस्पेरो ने कहा "पुत्री शान्त रहो, मेरे कौतुक से किसी का अनिष्ट नहीं हो सकता।" इसके पश्चात् उसने और भी कई कौतुक किये। और अन्त में उसने अपनी आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से नेपल्स के राजकुमार फर्डिनण्ड को मिराण्डा के सम्मुख बुलाया। मिराण्डा ने आज तक एरियल और कालिबान के अतिरिक्त किसी को नहीं देखा था। उस सुन्दर राजकुमार को देखते ही वह विमुग्ध हो उठी। कहने लगी—

" What is it ? A spirit !
Lord: how it looks about ! Believe me sir !
It carries a brave form. But it is a spirit.

इस अद्भुत घटना पर प्रस्पेरो ने चाकत होकर मन ही मन हँसते हुए कहा—

It goes on, I see,
As my soul prompts It.

इसके पश्चात् उसने उनके प्रेम की परीक्षा लेने के लिये और भी कौतुक रचा। उसने फर्डिनएड को नाना प्रकार के भेद दिखलाते हुए कहा:—

Fellow me.
Speak not you for him; he's a traitor. Come;
I'll manacle thy neck and feet together:
Sea-water shalt thou drink; thy food shall be
The fresh-brook muscles, wither'd roots and husks

इसके पश्चात् वह फर्डिनएड को मिराएडा के सम्मुख लकड़ी ढोने की आज्ञा देकर एक स्थान पर छिप जाता है। और प्रेम मुग्ध होकर उनकी प्रेम लीला को देखता है। संसार में इससे सुन्दर दृश्य और क्या हो सकता है। स्वयं प्रस्पेरो कह उठता है—

My rejoicings
At nothing can be more.

प्रस्पेरो के इस प्रेममय और कौतुक प्रिय स्वाभाव को बाह्य दृष्टि से साफ़ देखते हैं। पर जब हम उसका अन्तर्दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो हमें उसमें कुछ और ही तत्त्व नज़र आता है। उसके एक २ शब्द में शान्तिरस का निर्मल उच्छ्वास और अध्यात्मिकता के तत्त्व नज़र आते हैं। हमेशा प्रस्पेरो के मुख पर हँसी और आँख में आँसू विद्यमान रहते हैं। वह महा पुरुष अपने योग बल के प्रभाव से प्रेम की तरह २ की लहरें उत्पन्न करता है, और अन्त में वे सब लहरें विश्वप्रेम के महा समुद्र

में जाकर विलीन हो जाती हैं। सचमुच प्रस्पेरो की सृष्टि संसार के साहित्य में अद्भुत है।

शकुन्तला नाटक में हम कण्व ऋषि के दर्शन केवल एक स्थान पर चौथे अङ्क में करते हैं। पर उसी एक स्थान में महाकवि कालिदास ने उनके चरित्र का चरम विकास बतला दिया है। वह दृश्य है शकुन्तला की विदाई के समय अपने हृदय के प्रेम प्रवाह को रोकने की बहुत कोशिश करते हैं। वे अपने मन को सान्त्वना देते हुए कहते हैं कि, "शकुन्तला के लिये जैसा पति मैंने सोचा था, वैसा ही उसने अपने पुण्य प्रताप से प्राप्त कर लिया है। पर इस सान्त्वना से उनका हृदय नहीं समझता है। जबर्दस्ती से रोका हुआ झरने का जल जैसे एकाएक उमड़ पड़ता है। जिस स्नेहलता को उन्होंने नाना प्रकार के सिंचन से इतना बढ़ाया है, वही आज उन्हें छोड़कर चली जायगी। यह सोचकर उनका हृदय गद्गद् हो उठता है। कुछ समय के लिये पुत्री के प्रेम में वह बुढ़ा महर्षि अपने वैराग्य तक को भूल जाता है। शकुन्तला नाटक के वे चार श्लोक जगत् के साहित्य में अपनी सानी नहीं रखते। इसी स्थान के लिये जगत् के कवि कुल गुरु शेक्सपियर ने भारतीय कवि के लिए सिंहासन छोड़ दिया है। इसी स्थान पर कालिदास का कृतित्व है।

कण्व और प्रस्पेरो दोनों ही चित्र जगत् के साहित्य में अतुलनीय हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि, कण्व ऋषि के महर्षि होने पर भी कालिदास ने उन में मनुष्य प्रकृति का अद्भुत सामञ्जस्य दिखलाया है। पर प्रस्पेरो का चरित्र निर्मल देव चरित्र मात्र है।

शकुन्तला और मिराण्डा ।

कालिदास कल्पित शकुन्तला और शेक्सपियर कल्पित मिराण्डा इन दोनों नायिकाओं के चरित्र चित्रण में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। दोनों ही ऋषि की कल्पनाएँ हैं, दोनों ही अमानुषिक सहायता से सुरक्षित हैं। दोनों ही संसार के दूषित वायुमण्डल से परे हैं, दोनों ही सरल स्वभाव हैं। और दोनों ही समवयस्क हैं। दोनों ही नायिकाओं के नायक उनको प्रथम बार देखते ही उन पर मुग्ध हो जाते हैं। फ़र्डिनण्ड मिराण्डा को देखते ही कहते हैं—

" Full many a lady
I have eyed with best regard; and many a time
The harmony of their tongues hath into bondage
Brought my too diligent ear: for several virtues
Have I liked several women: ... ... but you ! O you
So perfect and so pearless, are created
Of every creature's best,

(अर्थात् मैंने कई स्त्रियों को देखा है; कितनी ही स्त्रियों के मिष्ट शब्दों ने मुझपर जादू सा असर भी किया है। और कितनी ही के गुणों पर मैं मुग्ध भी हुआ हूँ, पर हे सुन्दरी ! तुम्हारे अनुपम सौन्दर्य्य के सम्मुख वह सब हीन प्रभा है।

इसी प्रकार हमारे दुष्यन्त ने भी शकुन्तला को देखकर कहा था—

शुद्धान्त दुर्लभमिदं वपुराश्रम वासिनो यदि जनस्य।
दूरी कृताः खलु गुणैरुद्यानं लता वन लताभिः॥

(अर्थ पहले लिखा जा चुका है)

इतना अधिक साम्य होने पर भी इन दोनों नायिकाओं के चरित्र चित्रण में बहुत कुछ वैषम्य पाया जाता है।

पहले आप शकुन्तला और दुष्यन्त का मिलन देखिये और उनके पश्चात् फर्डिनण्ड के और मिराण्डा प्रथम मिलन का निरीक्षण कीजिये।

फर्डिनण्ड से मिलने के साथ ही मिराण्डा उनसे जिस प्रकार की बातें करती है, उनसे साफ़ प्रगट होता है, मानों मिराण्डा एक बालिका नहीं है, वह एक अतिशय प्रौढ़ा स्त्री है। वास्तव में देखा जाय तो वह एक बालिका थी, और इस संसार से बहुत दूर निर्जन स्थान में पल कर बड़ी हुई थी। उसकी बातों में इस प्रकार का प्रौढ़पन कम से कम हमारी मोटी नज़र में तो बिलकुल अस्वाभाविक मालूम होता है। वह कहती है—

Mira.—I am your wife, if you will marry me;
If not, I'll die your maid: to be your fellow:
You may deny me; but I'll be your servant
Whether you will or no.

Ferd. My mistress, dearest;
and I thus humbleever.

Mira. My husband then?

(अर्थात् तुम मुझसे विवाह करोगे तो मैं तुम्हारी पत्नी होकर रहूंगी, यदि नहीं करोगे तो चिरकाल तक तुम्हारी रानी ही बनकर रहूंगी। पत्नी रूप में तुम भले ही मुझे ग्रहण न करो पर चाहे तुम पसन्द करो या न करो मैं तुम्हारी दासी अवश्य हूंगी।)

फर्डिनण्ड—मेरी प्यारी ! तुम मुझे प्राणों से भी प्यारी हो क्या मैं तुम्हारे योग्य हूं ?

मिराण्डा—तब तुम मेरे पति हो। बातों में प्रारम्भ से अन्त तक प्रौढ़पन भरा हुआ है। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलालराय मिराण्डा का पक्ष लेते हुए उपरोक्त कोटेशन का हवाला देकर लिखते हैं—

" इस भिक्षा में एक ऐसी सरलता, गम्भीर्य और आत्म मर्यादा का ज्ञान है, जान पड़ता है कि, जैसे वह भिक्षा ही दान है। यह भिक्षा, भिक्षा नहीं है—वह एक प्रतिज्ञा है। फर्डिण्डन ब्याह करे या न करे उससे मिराण्डा का कुछ आता जाता नहीं। वह फर्डिनण्ड से कहती है "ब्याह करोगे ? करो, मैं तुम्हारी पत्नी होकर रहूंगी। ब्याह नहीं करोगे ? न करो। मैं तुम्हारी अनुरक्त दासी होकर रहूंगी। तुम क्या चाहते हो ? छांट लो, " यह जैसे रानी प्रजा को दान कर रही है। यह प्रेम भिक्षा नहीं है।"

"किन्तु शकुन्तला की भिक्षा भिक्षा है। या उसे आत्म विक्रय की कह सकते हैं उसमें यह भाव है कि, "देखो, मैं यदि तुम को यौवन दान करूं, तो तुम क्या दोगे ? कुछ दो या न दो, मेरी रक्षा करो" यहां केवल दैन्य जताना और याचना है।

शायद राय महाशय मिराण्डा की तरह शकुन्तला में भी प्रौढ़ता की झलक देखना चाहते थे। पर उनकी वह इच्छा पूरी न हो सकी। इसीलिये उन्होंने शकुन्तला पर उपरोक्त आक्षेप कर

मिराण्डा का पक्ष लिया है। पर हमारी समझ में इस में कालिदास का बिलकुल अपराध नहीं। कालिदास जानते थे कि, शकुन्तला बालिका है—वह सरल स्वभाव की ऋषि कन्या है, दुनिया के दूषित वायुमण्डल से बहुत दूर है। ऐसी हालत में वह गाम्भीर्य्य वह प्रौढ़ता उसमें कहां से आ सकती है। लज्जा नारी का एक स्वाभाविक धर्म्म है। चाहे यूरोप हो चाहे भारत, नारी की यह स्वाभाविक प्रकृति सर्वत्र समान पाई जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि, यूरोप के जन समाज में बढ़ते २ वह प्रवृत्ति कुछ घट जाती है, और भारतीय जन समाज में पलने से कुछ बढ़ जाती है। पर शकुन्तला और मिराण्डा ये दोनों नायिकाएं तो कहीं के जन समाज में नहीं पली थीं। फ़िर मिराण्डा के अन्दर इस स्वभाविक धर्म की कमी अर्थात् निर्लज्जता, क्यों पाई जाती है। इसका कारण हमारी दृष्टि में तो यही मालूम होता है कि मिराण्डा चाहे जिस स्थिति में पली हो, पर उसके चित्रकार शेक्सपियर तो उसी यूरोपीय जन समाज में पले थे जिस में लज्जा प्रायः व्यर्थ का आडम्बर समझा जाता है। कालिदास की शकुन्तला में लज्जा का यह अभिभावक सौन्दर्य्य स्थान स्थान पर पाया जाता है। हृदय के अन्दर उसके प्रेम का सागर लहरा रहा है, पर ऊपर लज्जा का बांध उसे बेहद जकड़े हुए है। इसी पशोपेश में पड़कर शकुन्तला दुविधा में पड़ रही है। पहले प्रेम का उदय होता है जिससे वह राजा को प्रेम दृष्टि से देखती है। उसके पश्चात् लज्जा का वेग होता है तो वह बाहर चली जाती है, फ़िर प्रेम का उदय होने पर कपड़ा उलझ जाने का बहाना कर वह वापस आती है, इस प्रकार लज्जा और प्रेम के द्वंद्व युद्ध के बीच में नारी की मधुर नम्रता का सुन्दर चित्र कवि ने खूब ही

अच्छी प्रकार खींचा है। इसमें सन्देह नहीं है कि, इस स्थान पर शकुन्तला चित्र अंकित करते करते कहीं कहीं कवि की कलम चूक ही गई है, जैसे—

"हला अलं वो अन्तेपुर विरह पज्जुस्सुपण शराख्खिणा अवरुद्धेन।"

(सखी, अन्तःपुर की रमणियों के विरह में उत्कण्ठित चित्र इन राजर्षि को रोक रखने का प्रयोजन नहीं है।)

इस स्थान पर अवश्य ही कालिदास ने शकुन्तला के सरल-सौन्दर्य्य को बहुत कुछ नष्ट भ्रष्ट कर दिया है। एवं यहां पर उसके चरित्र चित्रण में भी बहुत कुछ अस्वाभाविकता आ गई है। इसका विस्तृत विवेचन हम शकुन्तला की समालोचना करते हुए आगे करेंगे।

फिर भी सरसरी निगाह से देखने पर हमें स्पष्ट मालूम पड़ता है कि, मिराण्डा चरित्र चित्रण की निगाह से शकुन्तला की अपेक्षा बहुत नीचे है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वह शिशु के अन्तःकरण से भी अधिक सरल, कमल के पुष्प से भी अधिक पवित्र और प्रेममय है। पर प्रेम का जो सौन्दर्य्य है, नारी हृदय का जो अलंकार है, वह उसमें नहीं है। हां, मिराण्डा एक लज्जाहीन पवित्र बालिका है। जब कि, शकुन्तला उसी सौन्दर्य्य एवं अलङ्कार से युक्त एक सरल हृदय बालिका है।

इसी विषय में कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ लिखित है—

"शकुन्तला की सरलता स्वाभाविक है। और मिराण्डा की अस्वाभाविक। दोनों का भिन्न २ अवस्था में पाला जाना ही इस विभिन्नता का कारण है। शकुन्तला का भोलापन मिराण्डा

की तरह अज्ञान से ढका हुआ न था। उसकी दोनों सखियों ने उसे बतला दिया था कि, वह यौवन विकास की प्रथम अवस्था में है। वह लज्जा की शिक्षा भी पा चुकी थी। परन्तु ये सब केवल बाहरी आडम्बर हैं। उसका भोलापन और शुद्धाचार एकदम हृद्गत है। कवि ने उसे सांसारिक व्यवहार से बिलकुल अनजान बताया है। परन्तु वह सांसारिक व्यवहार से कुछ २ परिचित अवश्य थी। क्योंकि उसका आश्रम सांसारिक समाज से बिलकुल बाहर न था। वहां भी सामाजिक नियमों का पालन होता था। पर शकुन्तला को इन नियमों का पूरा ज्ञान न था। उसमें विश्वास परायणता की मात्रा बहुत अधिक थी। वही उसके अधः पतन का कारण हुई। और उसीने उसके उद्धार का रास्ता भी बतलाया। विश्वासघात के समय उसी विश्वास-परायणता से उसमें क्षमा, धैर्य्य, दया आदि समयोचित गुणों का विकास हुआ। मिराण्डा के भोलेपन की ऐसी कठिन परीक्षा कभी नहीं हुई। वह इस प्रकार कसौटी पर कभी नहीं कसी गई।

तेरहवां अध्याय

कालिदास और अभिज्ञान शाकुन्तल।

हमने इस पुस्तक के अन्दर पूर्व अध्यायों में नाट्य-कला सम्बन्धी मोटी २ बातें बतलाने की यथा साध्य चेष्टा की है। यों तो यह नियम बहुत ही गहन हैं, पर संक्षिप्त में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है, हमारे अनुमान से वह लिखा जा चुका। अब हम उदाहरण स्वरूप किसी भी एक नाटक को लेकर उसमें नाट्य-कला के तत्वों का किस प्रकार पालन किया गया है, उसकी मीमांसा कर ग्रन्थ को समाप्त करेंगे।

हमारा अनुमान है कि केवल परिभाषा द्वारा जो ज्ञान प्राप्त नहीं होता, वह उदाहरणों द्वारा सहजही प्राप्त हो सकता है। और इसी कारण हम इन पृष्ठों को बढ़ाना उचित समझते हैं। हमारे भारतीय नाटक साहित्य में अभिज्ञान शाकुन्तल सब से उत्कृष्ट है, वह आधुनिक नाटकों का भी आदर्श हो सकता है। इस लिए हम उसी के चरित्र चित्रण की विशेषता को पाठकों के सम्मुख रखते हैं।

कालिदास के लिखे हुए नाटकों में से इस समय तीन नाटक प्राप्य हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्नि मित्र। इनमें से "अभिज्ञान-शाकुन्तल" उनकी रचना का उत्कृष्ट एवम् संसार प्रसिद्ध नमूना है। विक्रमोर्वशी उससे निम्न श्रेणी का है। और मालविकाग्नि मित्र के विषय में तो कई लोगों का ख्याल है कि, वह उनकी रचना ही नहीं है। जो कुछ हो, इस विषय पर विचार करना यहां पर प्रयोजनीय नहीं। हम तो इस संकीर्ण स्थान में केवल उनकी प्रसिद्ध कृति की ओर ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट करेंगे।

पहले कई अध्यायों में हम इस बात की विवेचना कर आये हैं कि, नाटक की उत्तमता की परीक्षा हम पांच साधनों के द्वारा कर सकते हैं (१) प्लॉट (२) घटनाओं का ऐक्य (३) चरित्र चित्रण (४) कवित्व और (५) भाषा, छन्द, रस, अलङ्कार आदि। इन्हीं पांच कसौटियों पर उसको जांचना हमारा कर्त्तव्य है।

पहले प्लॉट (Plot) को ही लीजिए। शकुन्तला पौराणिक नाटक है। महाभारत में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान ही से कालिदास ने अपने प्लॉट की रचना की है। लेकिन नाटककार

की रक्षा करने के लिए उन्होंने इसमें कई स्थानों पर परिवर्तन कर दिया है। महाभारत में वर्णित दुष्यन्त एक लम्पट राजा है; और शकुन्तला एक कामुकी है। पर—जैसा कि हम पहले कह आये हैं—अलङ्कार शास्त्र के नियम की रक्षा के लिये कालिदास को उनमें परिवर्तन करना पड़ा है। उन्होंने दुष्यन्त को एक कर्त्तव्य निष्ठ और धर्म्मपरायण राजा के रूप में चित्रित किया है, और शकुन्तला को एक पवित्र चरित्रा-सती नारी के रूप में। और इन चित्रों को बदलने के लिए उन्हें दो ऐसी नवीन कल्पनाओं की योजना करनी पड़ी है, जिनकी कि, महाभारत में गन्ध तक नहीं है। उनमें से पहली दुर्वासा के शाप की है और दूसरी अभिज्ञान की। इसके अतिरिक्त मूल उपाख्यान में और नाटक के कथानक में और भी कई स्थानों पर अन्तर है—जैसे महाभारत में कण्व ऋषि के आश्रम में ही शकुन्तला के पुत्र हो जाता है। और दुष्यन्त की राजसभा में उसका प्रत्याख्यान एवम् पुनर्ग्रहण हो जाता है। पर नाटक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के पश्चात् पुत्रोत्पत्ति एवम् उसका पुनर्ग्रहण होता है; पर ये घटनाएँ केवल नाटकीय सौन्दर्य्य की वृद्धि के लिए बदल दी गई हैं। लेकिन उपरोक्त दो घटनाएँ (अभिशाप और अभिज्ञान) रखने में कवि का उद्देश्य बहुत ही गूढ़ है। पाठकों की जानकारी के निमित्त हम इस विषय को नीचे कुछ विस्तृत रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। *

---

* कालिदास और भवभूति पर यहां जो विवेचन किया गया है उसका मूल आधार स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय रचित "कालिदास और भवभूति" नामक ग्रन्थ है।

—लेखक—

प्रारम्भ में ही हम दुष्यन्त को तपोवन में देखते हैं। वे शिकार खेलने के लिए जंगल में गये थे। वहां से महर्षि कण्व के आश्रम में आकर उन्होंने आतिथ्य स्वीकार किया। कण्व ऋषि उस समय बाहर थे, अतएव वैखानस ने उनके आतिथ्य का भार शकुन्तला पर रक्खा। उसी समय उन्होंने ऋषि कन्या शकुन्तला को देखा। उस मुग्धा को देखते ही उनके हृदय में जिन भावों का उदय हुआ वे आर्य्य-कुल के आदर्श राजाओं के लिए कदापि सराहनीय नहीं हो सकते। वे उस अर्ध विकसित सुन्दरी को झाड़ों की आड़ में खड़े होकर देखते हैं, और उसी समय उस पर मुग्ध हो जाते हैं, मन ही मन वे कहते हैं—

शुद्धान्त दुर्लभमिदं वपुराश्रम वसिनो यदि जनस्य
दूरी कृतः खलु गणैरुधाम लता वनलताभिः

वे उस रूप लालसा में पड़कर यहां तक उत्तेजित हो जाते हैं; कि, उसके पालक महर्षि कण्व तक को दोष देते हैं।

"कथमियं सा कण्व दुहिता। असाधु दर्शी खलु तत्र भवान्क श्यपः यइमामाश्रम धर्मं नियुक्ते।"

"क्या यह कण्व ऋषि की पालित कन्या है? कण्व ऋषि बड़े ही असाधुदर्शी हैं जिन्होंने ऐसे रत्न को आश्रम-धर्म में नियुक्त कर रखा है"

आगे चलकर तो वे स्पष्ट कह देते हैं कि, "अस्यां अभिलाषी मे मनः" "मेरा मन इसे पाने की अभिलाषा करता है"।

इससे पता चलता है कि, दुष्यन्त एक असाधारण रसिक पुरुष थे। नहीं तो, एक अनजान, तापसी कन्या को देखते ही उस पर मुग्ध हो जाना क्या भले आदमियों का काम है? तिस पर भी दुष्यन्त तो अतिथि थे। क्या अतिथि-धर्म का यही

पुरस्कार है ? इसके अतिरिक्त वे राजा भी थे। तपोवन की रक्षा करना उनका धर्म था। इस प्रकार तपोवन में जाकर, अपनी लालसा की लगाम को छोड़ देना तो उनके लिए और भी अधिक लांछनीय था।

पर कवि को इससे कोई सरोकार नहीं। वह मनुष्य प्रकृति का चित्र खींचने बैठा है। एक अपरिचित अति सुन्दरी, मुग्ध यौवना कुमारी को देखने पर एक युवा पुरुष के हृदय में जिन मानसिक विकारों की उत्पत्ति होती है। सौन्दर्य को देखकर पुरुष के मन की जो अवस्था होती है, उसका सुन्दर, साफ़ और स्पष्ट चित्र कालिदास ने खींच दिया। उससे अधिक सोचने की उन्हें आवश्यकता भी न थी। खैर, आगे चलकर उनकी विद्वता का नमूना देखिए। घुड़सवार जब घोड़े को दौड़ाता है तो पहले चाबुक मारता है और उसके पश्चात् उसको "रास को खींचता है। यही हालत मनुष्य हृदय की भी है। किसी सुन्दर वस्तु को देखते ही उसकी ओर लालसा दौड़ती है, और उसके पश्चात् कर्त्तव्य आकर उसके मुख में लगाम लगाता है, उसकी रास को खींचता है, एवम् उसे अपने आधीन कर लेता है।

दुष्यन्त ने लालसा की लगाम छोड़दी, उसका हृदय शकुन्तला की ओर आकृष्ट हुवा, वह उसे प्राप्त करने की इच्छा भी करने लगा। इतने ही में कर्त्तव्य ने आकर धर दबाया। लालसा की गति धीमी हुई। दुष्यन्त शकुन्तला के जन्म, कर्म, जाति, पांति आदि की बात सोचने लगे।

दुष्यन्त— " अपि नाम कुल पतेरियम सवर्ण क्षेत्र सम्भवास्यात्। अथवा कृतंसंदेहनं।

असंशय क्षत्र परिग्रह क्षमा, यदार्य्यं मस्याना भिलाषी ये मनः।

सतां हि सन्देह पदेषु, प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः ।"

कवि बतलाता है कि राजा के हृदय में काम वासना का बवण्डर अवश्य उठ रहा है। पर उसके बीच में कर्त्तव्य की एक शुष्क, कठोर और दयाहीन मूर्ति स्थिरभाव से खड़ी होकर उस वासना पर शासन कर रही है।

इसके पश्चात् जब राजा को मालूम हो गया कि, यह कन्या विश्वामित्र की है। और मेनका अप्सरा के गर्भ से इसका जन्म हुआ है, तब तो उनके आनन्द की सीमा न रही। वे कहते हैं—

भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देह निर्णयो जातः ।
आशङ्क से यदाग्नि तदियं स्पर्श क्षमं रत्नम् ।

"अरे मन! जिसे अता जानकर शंका करता था, वह तो छूने लायक रत्न है।"

कर्त्तव्य का कार्य्य पूरा हुआ। लालसा को संयत् कर, राजा के हृदय में विवाह की भावना पैदा कर वह चुप हो गया। इस स्थान पर कवि ने दिखलाया है कि, किस प्रकार मनुष्य प्रकृति लालसा के प्रवाह में बहने लगती है और किस प्रकार कर्त्तव्य आकर उसे संयत करता है। कवि ने दिखाया है कि, राजा के हृदय में लालसा अवश्य उत्पन्न हुई, वह उस मुग्धा बालिका पर मुग्ध अवश्य हो गया, पर इस दुविधा में भी उसने अपने मनुष्यत्व को नहीं बेच दिया। कामांध होकर भी वह अपने विवेक से भ्रष्ट नहीं हुआ। शकुन्तला के प्रति उसकी दृष्टि अवश्य लालसा पूर्ण है, वह उस अनिंद्य सौन्दर्य्य को अपना उपभोग भी बनाया चाहता है, पर फिर भी वह उस बालिका का धर्म्म भ्रष्ट नहीं किया चाहता। वह उसके साथ कर्त्तव्य-पूर्ण, मनुष्य समाज से अनिंद्य विवाह करना चाहता है।

यहीं पर कवि का कृतित्व है। यहीं पर उसके प्रकृतिज्ञान का पता लगता है। कवि कहता है कि, लालसा बुरी है--काम वासना मनुष्य के लिए कलंक है। पर जब उस लालसा पर कर्त्तव्य की लगाम लग जाती है तो वह भी सुन्दर हो जाती है। उस वीभत्स काम पर भी जब विवाह का बन्धन पड़ जाता है तब वह भी उच्च प्रेम का रूप धारण कर लेता है। कर्त्तव्य ज्ञान से रहित लालसा, त्याज्य, है-निंद्य है घृणित है; और इसी प्रकार विवाह से रहित काम वासना भी वीभत्स है। मगर जब इन पर कर्त्तव्य का सौम्य प्रकाश पड़ने लगता है तब ये घृणित वस्तुएँ ही गौरव का कारण बन जाती हैं।

इधर दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला के हृदय में भी लालसा की उत्पत्ति होती है। लज्जा उस लालसा का प्रवाह भरजोर रोकने की कोशिश करती है, पर वह पराजित हो जाती है। अन्त में उन दोनों का वहींपर गन्धर्व विवाह हो जाता है।

यहां तक महाभारत में और अभिज्ञान शाकुन्तल में विशेष भेद नहीं पड़ता। प्रधान वैषम्य यहीं से प्रारम्भ होता है। महाभारत में तो दुष्यन्त अपने घर आते ही शकुन्तला को भूल जाता है। और जब शकुन्तला उसके दरबार में जाती है तो, वह अनायास ही धर्मानुसार ब्याही हुई पत्नी को लोक लज्जा के भय से त्याग देता है। कई स्त्रियों का स्वामी एक लम्पट पुरुष यदि इस प्रकार का अघोर कृत्य करे तो उसमें आश्चर्य ही क्या ? मगर कालिदास को तो उत्कृष्ट चित्र की योजना करनी थी। महाभारत के दुष्यन्त चाहे जितने ही लम्पट क्यों न हों, पर उनके दुष्यन्त को तो एक कर्त्तव्य परायण धर्मनिष्ठ होना ही पड़ेगा। उनके कुमत से यह कब सम्भव हो सकता है कि, वे

धर्मानुसार ब्याही हुई पत्नी का अनायास ही त्याग करदे। इधर इतिहास की भी रक्षा करना जरूरी है। इतिहास कहता है कि शकुन्तला का प्रत्याख्यान अवश्य हुआ था। इस पशोपेश में पड़कर कालिदास ने अपनी अपूर्व कल्पना से जिस घटना की अवतारणा की है, उसे देखकर सचमुच उनकी पूजा करने को जी चाहता है। वे कहते हैं कि, शकुन्तला का प्रत्याख्यान भी हुआ था। लेकिन उसके लिए दुष्यन्त दोषी नहीं हो सकते; उसका दोष तो देव के सिर है।

इसी बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अभिज्ञान और अभिशाप की कल्पना की है। दुष्यन्त जिस समय शकुन्तला से बिदा हुए, उस समय उसे निशानी की तौरपर एक अंगूठी दे गये। दुष्यन्त के बिदा होते ही शकुन्तला उनके ध्यान में डूब गई। जिस समय ध्यान में उसका व्यक्तित्व तक लीन हो रहा था, उसी समय दुर्वासा ऋषि का आगमन हुआ। द्वार पर खड़े होकर उन्होंने कहा— "अयं महं भो," (अरे यह मैं आया हूं) यदि शकुन्तला होश में होती तो फौरन सब कार्य्य छोड़कर उनका सत्कार करती। मगर उस समय तो हालत ही कुछ और थी। उस समय तो उसका भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान सब उसी ध्यान में लीन हो रहा था। उस समय यदि एक की जगह सौ दुर्वासा भी आकर उपस्थित हो जाते तो उसे चेतना न होती। इधर दुर्वासा भी क्रोध की प्रति मूर्त्ति थे। यदि दूसरे ऋषि होते तो शायद उसकी स्थिति को समझकर क्षमा भी कर देते। पर यहां क्षमा कहाँ? दुर्वासा और क्षमा। एकदम असम्भव। उन्होंने तीक्ष्ण दृष्टि करके कहा ही तो सही—

विचिन्त यन्ती यमनन्य मानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितो ऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ।

(तू संलग्न चित्त से मनुष्य का ध्यान कर रही है, और जिसके कारण तुझे मेरे समान तपोधनका आना भी नहीं मालूम हुआ, वह पुरुष अच्छी तरह स्मृति दिलाने पर भी तुझे पहचानने में असमर्थ रहेगा। जिसप्रकार मद्यपान किया हुआ आदमी सचेत होने पर पूर्व कही हुई बात को याद दिलाने परभी स्मरण नहीं कर सकता।

जब अनसूया ने यह बात सुनी तो वह घबराई हुई ऋषि के पास गई और उनके पैर पकड़कर उनसे क्षमा प्रार्थना करने लगी। अन्त में दुर्वासा ने खुश होकर, कहा कि, कोई अभिज्ञान दिखलाने पर राजा को स्मृति हो जायगी।

इस घटना की अवतारणा से दुष्यन्त का शकुन्तला को भूल जाना अत्यन्त स्वाभाविक था। ऐसी हालत में यदि गर्भवती शकुन्तला उनके पास प्रणय की भिक्षा लेने के लिये जावें और धर्म एवम् लोक लज्जा के डरसे दुष्यन्त उसे अस्वीकार कर दे तो इसके लिये कोई उन्हें दोष नहीं दे सकता। दुष्यन्त को कर्तव्य परायण सिद्ध करने के लिए, कालिदास ने और भी प्रयत्न किया है।

दुर्वासा के शाप से स्मृति भ्रम हो जाने पर भी जब अपूर्व रूपवती शकुन्तला उनके सम्मुख उपस्थित हो जाती है, उस समय भी उनका चंचल मन उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है, वे कहते हैं—

"केय मेव गुण्ठन वती नाति परिस्फुट शरीर लावण्यां।
मध्ये तपो धनानां किसलय मिव पाण्डु पत्राणां।"

"यह अवगुण्ठनवती स्त्री कौन है ? जिस को लावण्य पूर्ण परिस्फुट नहीं है । इन मुनियों के बीच में यह ऐसा मालूम पड़ती है, मानों पके हुए पीले पुराने पत्रों के बीच में कोई नई कोमल हो ।"

स्पष्ट देख पड़ता है कि उनका ध्यान उसकी अधखिली कान्ति पर ही स्थित है । पर जब शार्ङ्गरव कहते हैं—

त्वमर्हतां अग्रसरः स्मृतोऽसिय —
च्छकुन्तला मूर्त्तिमतीच सत्क्रिया ।
समानयस्तुल्य गुणं वधुवरं ।
चिरस्य वाच्यं न गता प्रजापतिः ।—

तदि दानी मापन्न सत्वा प्रति गृह्यतां सहधर्म चरणायेकी ।

यह कहते ही राजा चौंक उठते हैं । वे कहते हैं" किमिद मुपन्य स्तम्' (तुम यह क्या कह रहे हो) उसके गौतमी उसका घूँघट उठाकर दिखलाती है । उस अमलिन कान्त रूपको देखकर राजा का मन फिर जाता है । फिर वे याद करना चाहते हैं । हृदय में लालसा और धर्मज्ञान के बीच युद्ध छिड़ जाता है । उसमें धर्म की जय होती है । राजा उसे स्वीकार करना अस्विकार करते हैं । तब शकुन्तला कहती है कि" तदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चा हुं' इस प्रकार प्रत्याख्यान करना क्या आपको उचित है ? तब राजा कानों में उंगली रख कहते हैं– "समीहसे माञ्च नाम पातुथि तुम" हरे ! हरे ! तुम मुझे पतित करना चाहते हो ।"

घोर अन्याय है। एक विश्वास करने वाली पतिगत प्राणा रमणी के प्रति इन शब्दों का व्यवहार घोर अन्याय है। पर कुशल कवि ने इस अन्याय को राजा के सिर रखकर दैव के सिर रख दिया। दुष्यन्त शकुन्तला को जान बूझकर नहीं भूल गये थे, बल्कि बलात्कार उनके हृदय से वह स्मृति हटाई गई थी। इतनाही नहीं, वल्कि इस प्रकार का अन्तर्युद्ध दिखलाकर कालिदास ने दुष्यन्त के हृदय का बहुत ही उज्वल दृश्य पाठकों के सम्मुख रख दिया है। किये हुए इस घोर अन्याय से भी दुष्यन्त के चरित्र में कलंक नहीं लग सकता। यह दूषण ही कवि की कृपा से उनके लिये भूषण हो गया।

इस प्रकार सरसरी निगाह से देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि, प्लॉट को जमाने में कालिदास सर्वतो भाव से सफल हुए।

घटनाओं का ऐक्य।

दुष्यन्त के साथ शकुन्तला का उत्पन्न हुआ प्रेम, उसका विकास और उसका नतोजा ये तीन बातें दिखलाना ही इस नाटक का उद्देश्य है। जिस विषय को लेकर इस नाटक का आरम्भ हुआ, उसी विषय में इसका अन्त भी हो गया। प्रेम मय नाटकों में प्रेम की सफ़लता और विफलता दिखाना ही नाटक का उद्देश्य होता है। इस नाटक में प्रेम की सफ़लता दिखलाई गई है। अतः इसमें " घटनाओं का ऐक्य " स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त घटनाओं की सार्थकता और घात प्रति घात भी इस नाटक में पाया जाता है। जितनी भी घटनाएँ इस नाटक में हुई हैं, वे या तो शकुन्तला और दुष्यन्त के मिलन

में बाधक हुई है या साधक। व्यर्थ की एक भी घटना इस नाटक में नहीं पाई जाती।

चरित्र चित्रण।

दुष्यन्त।

यह बात पहले लिखी जा चुकी है कि, महाभारत में वर्णित राजा दुष्यन्त एक लम्पट पुरुष थे। उनके चरित्र में उल्लेख योग्य कोई विशेष गुण नहीं था। कालिदास ने अपनी लेखनी से उनके चरित्र में रंग देकर उन्हें कुछ ऊपर उठाया अवश्य है, मगर फिर भी यह स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि, उन्होंने उनके चरित्र को आदर्श बनाने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने उस चरित्र को सुन्दर बनाकर भी प्रकृत रक्खा है, और इसी लिये "उत्तर राम चरित्र" की तरह "अभिज्ञान शाकुन्तल" आदर्शवादी नाटकों की श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता। वह प्रकृत-वादी है।

सारा नाटक ध्यान पूर्वक पढ़ जाने पर भी हमें दुष्यन्त में कोई उल्लेख योग्य विशेष गुण नज़र नहीं आता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, राजा दुष्यन्त एक सुदृढ़ शरीर वाले सुन्दर पुरुष हैं; उन्हें शिकार का शौक है, तपोवन में जाकर ऋषियों की रक्षा करना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं। वे धर्म्म शास्त्रों और ब्राह्मणों पर भी श्रद्धा रखते हैं–माता की आज्ञा पालन करने में भी सिद्धहस्त हैं–और धर्म्म भीरु भी हैं। पर ऊपर उल्लिखित गुण प्रायः प्रत्येक अच्छे राजा में पाये जाते हैं। बल्कि उपरोक्त बातों में भी दुष्यन्त में स्थान २ पर साधारण राजाओं

की अपेक्षा कमज़ोरी मालूम होती हैं। वे शिकार करते अवश्य हैं, मगर किसी बाघ, भालू या हिंसक प्राणी का नहीं-बल्कि हरी २ दूब चरते हुए सुन्दर और बलहीन मृगों का। वे तपोवन में ऋषियों की रक्षा करने के बहाने से जाते अवश्य हैं। लेकिन उसमें भी उनका असल स्वार्थ छुपा हुआ है; जैसा कि माधव्य के मुँह से हम इसी समय सुन पाते हैं। ("एसो दाणि भअदो अनऊलो गल हत्थो"—"इस समय यह आप के अनुकूल गलहस्त है) वे धर्म्म शास्त्रों और ब्राह्मणों पर श्रद्धा भी रखते हैं, लेकिन ब्राह्मण ऋषियों के आश्रम में अतिथि होकर भी उनकी कन्या के साथ गुप्त रूप से विवाह करने में वे आगा पीछा नहीं सोचते। इतनी श्रद्धा रखते हुए भी वे इस भयङ्कर विश्वासघात को करही डालते हैं। हां वे धर्म भीरु जरूर हैं, यहां तक कि, इसी धर्म के भय से वे शकुन्तला के समान सुन्दरी स्त्री का भी प्रत्याख्यान कर डालते हैं पर यह धर्म भीरुता हरएक भले मनुष्य के आचरण में पाई जाती है। इसका न होना ही कलङ्क की बात है। इससे चरित्र का कोई विशेष महात्म्य नहीं बढ़ता। इनके अतिरिक्त दुष्यन्त में एक ऐसा गुण है जो सब लोगों में नहीं पाया जाता। वे एक श्रेष्ठ चित्रकार हैं। उनके बनाए हुए शकुन्तला के चित्र को देख कर मिश्रकेशी अप्सरा को जो गुप्त रूप से खड़ी हुई राजा की हालत को देख रही थी—असली शकुन्तला का भ्रम हो आया था। यहां तक कि, स्वयं चित्रकार को—राजा को—भी उसमें असलियत का भ्रम हो आया। और वे उसे देखते २ उन्मत्त से हो उठे। चित्र में भौंरा शकुन्तला के अधर पर बैठना चाहता है। इस पर क्रोधित होकर दुष्यन्त ने कहा-

"ओ न मे शासने तिष्ठसि भूषतां वहिं संप्रति हि--
अक्लिष्ट बाल तरुपल्लव लोभ नीपं;
पीतं मया सदैवमेव रतोत्स वेषु,
बिम्बाधरं दशसि चेद्भ्रमर पिया याँ
'वां कारयामि कमलो दर बन्धनस्थम्।

[अरे तू मेरी आज्ञा नहीं मानता ? तो सुन हे भ्रमर! रतिकाल के समय मैंने जिस अमलिन कोमल पल्लव के समान रंगीन, और लुभानेवाले प्रिया के बिम्बातुल्य अधर को सदय भाव से पिया है--चूसा है, उसपर अगर तू निष्ठुर भाव से दंशन करेगा तो मैं तुझे कमल के अन्दर कैद करने का दण्ड दूंगा।' जिसका चित्रित किया हुआ चित्र इतना अनन्य है, वह निश्चय ही एक श्रेष्ठ चित्रकार होगा।

यद्यपि चित्रकला की निपुणता आदि कुछ विशेषताएं दुष्यन्त में पाई जाती है, तथापि वे उनके उत्कृष्ट चरित्र की सूचक नहीं, बल्कि कलाओं में पारदर्शी होने का नमूना भर है। इन विशेषताओं से उनके चरित्र का महत्व नहीं बढ़ सकता।

इन बातों से साफ़ पता चलता है कि, दुष्यन्त में मामूली राजाओं से अधिक कोई उल्लेख योग्य चारित्रिक गुण नहीं पाया जाता। बल्कि कहीं कहीं तो वे अपने साधारण कर्तव्य से भी स्खलित हो गये हैं। अब प्रश्न यह हो सकता है कि, इस प्रकार के गुणहीन प्रधान पात्र के रहते हुए भी शकुन्तला नाटक का महत्व इतना अधिक क्यों है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि, दुष्यन्त के चरित्र का महत्व उनकी चारित्रिक महत्ता में नहीं, प्रत्युत उनके नाटकीय उत्थान और पतन में है। पहले

तीन अंकों में हम देखते हैं कि, राजा का पूरी तरह से पतन हो जाता है, यदि इन तीन अङ्कों में उनके हीन चरित्र के अन्दर गंधर्व विवाह की हलकीसी उज्वल रेखा न रहती, तो शायद उनका उत्थान एकदम असम्भव हो जाता। चौथे और पांचवें अङ्क में उनके चारित्रिक उत्थान के कुछ लक्षण नज़र आते हैं, ऐसा मालूम होता है, मानों वे अब उठने की चेष्टा कर रहे हैं। और आगे चल कर छठे और सातवें अङ्क में उनका पूर्णतः उत्थान हो जाता है।

इस नाटक के पांचवें अङ्क में दुष्यन्त के चरित्र में जो घात प्रतिघात हुआ है, उससे नाटकीय सौन्दर्य्य का बहुत अच्छा विकास हुआ है। दुष्यन्त राजधानी में आकर शकुन्तला को एकदम भूल जाते हैं। फिर कुछ दिनों पश्चात् शकुन्तला जब उनके पास पुनः उपस्थित होती है तब हमें उनका और ही रूप नजर आता है। जिस शकुन्तला को देखते ही वे उस पर जी जान से अनुकूल हो गये थे, जिसशकुन्तला को देखते उन्होंने कहा था कि, "क्या मनुष्यों में भी ऐसा रूप सम्भव है" उसी शकुन्तला को आज सम्मुख पाकर भी धर्म भय से वे उसे ग्रहण नहीं कर रहे हैं। वे उस अनिद्य सौन्दर्य्य को देखकर फिर भी मुग्ध हैं, वे उसे ग्रहण करने की बात को फिर भी सोचते हैं, पर फिर भी वे धर्म्म से एक पग भी विचलित नहीं होना चाहते। उस धर्म भय को शकुन्तला का अनुनयविनय, ऋषि और ऋषिकन्याओं का विश्वास और क्रोध भी दूर नहीं कर सकते।

वे स्मृति के गहरे समुद्र में डूब जाते हैं। बहुत हाथ पैर पीटने पर भी उससे नहीं निकल सकते। एक अदृश्य शक्ति

उनपर अपना आक्रोश जमाए हुए हैं। उनके हृदय में अलक्षित रूप से एक भयङ्कर तहल का मचा हुआ है। यहां पर उनके मानसिक विकारों का सूक्ष्म विश्लेषण करनेमें कवि ने अपनी कलम को तोड़ दिया है। सचमुच अपूर्व है इस मानसिक युद्ध में एक ओर क्षत्रिय का तेज है दूसरी ओर ब्रह्म तेज है। एक ओर धर्म्म भय है दूसरी ओर अलौकिक सौन्दर्य है। दोनों ऋषिकन्याएं और ऋषि शिष्य राजा को कठोर से कठोर झिड़कियां देते हैं-उनकी तीव्र भर्त्सना करतेहैं, दुष्यन्त यद्यपि उनपर रंचमात्र भी क्रोध नहीं करते हैं, तथापि अपने कर्त्तव्य से रंचमात्र भी विचलित नहीं होते हैं। उस कर्त्तव्य पालन में उन्हें ब्राह्मण का अभिशाप तक सिरपर चढ़ाना पड़ता है,

उसके पश्चात् जब परित्यक्ता शकुन्तला वहां से चली गई, तब दुष्यन्त को बेहद आन्तरिक दुःख हुआ। उनके सम्मुख दिनरात शकुन्तला की प्रतिमूर्ति घूमने लगी। और जब धीवर के द्वारा उन्हें वह अंगूठी मिल गई तब तो उनके पश्चाताप की वह भट्टी धधक उठी।—

"प्रिये अकारण परित्यागादनु शय दग्ध हृतावद नुकम्पता मयं जनः पुनर्दर्शनेने।"

प्रिये! अकारण तुम्हें त्याग कर देने के कारण इस समय मेरा हृदय बहुत दग्ध हो रहा है। अब तुम पुनः दर्शन-देकर अपने जनपर कृपा करो।

इस समय उनके हृदय में विरह की अग्नि धधक रही थी और आँखों से पश्चात्ताप के आँसू गिर रहे थे। ऐसे समय में ही एक राज कार्य उपस्थित होता है। धनवृद्धि नामक वणिक समुद्र में जहाज के साथ डूबकर मर जाता

है। उसके सन्तान नहीं है। उसकी सम्पत्ति के सम्बन्ध में मंत्री राजा का परामर्श मंगवाता है। राजा इसका जो उत्तर देते हैं सचमुच वह दिव्य है !

"किमनेने सन्तातिरस्ति नास्तीति
येन २ वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना
न स पापादृते त्वासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्"

(सन्तान है या नहीं इससे क्या मतलब ? घोषणा कर दो कि, प्रजाओं को जिस २ स्नेह पात्र बन्धुओं का वियोग हो, उस बन्धु का स्थान दुष्यन्त पूरा करेगा, किन्तु वह प्रजा किसी पाप कर्म से कलुषित न हो।)

कवि ने इस स्थान पर दुष्यन्त को बहुत ऊपर उठा दिया है। शोक में अभिभूत होकर भी राजा अपने कर्तव्य को नहीं भूलते इस श्लोक में प्रजा के साथ उनकी जो सहानुभूति जो सम वेदना झलकती है, वह बहुत ही उच्च है।

अधिक स्थान नहीं है, नहीं तो दुष्यन्त चरित्र के सूक्ष्म पहलुओं पर भी कुछ विचार किया जाता। पर इतनी मोटी विचारणा से भी हम यह तात्पर्य्य निकाल सकते हैं कि, महाभारत के कामुक दुष्यन्त पर भी नाटक में इस प्रकार विकास देखकर हमारे हृदय में भारी सम्मान उत्पन्न होता है। नाटक पढ़ने के पश्चात् हमारा हृदय यही निष्कर्ष निकालता है कि, दुष्यन्त केवल कामुक ही नहीं है, वे एक असाधारण प्रेमिक हैं कर्तव्य परायण हैं। पुत्रवत्सल हैं-धर्म भीरु हैं। एक क्षुद्र चरित्र को कालिदास ने अपनी प्रतिभा के बल से इतना ऊँचा उठा दिया। पर उसे देवता नहीं बताया। हां, दुष्यन्त एक मनुष्य ही हैं।

शकुन्तला ।

शकुन्तला नाटक में शकुन्तला के चरित्र चित्रण में कालिदास ने मनुष्य प्रकृति का एक यथार्थ और सूक्ष्म चित्र खींच दिया है। शकुन्तला का चरित्र मनुष्य के मानसिक विचारों के विकास और पतन का एक उज्वल चित्र है।

प्रारम्भ में ही हम शकुन्तला को अपनी दो सखियों के साथ तपोवन के वृक्षों में पानी सींचती हुई देखते हैं। शकुन्तला उन वृक्ष लताओं पर बहुत ही प्रेम करती है। ऐसा भास होता है, मानों वे वृक्ष ही उसका जीवन है—वृक्ष ही उसका सुख है, वृक्ष ही उसका आनन्द है, और वृक्ष ही उसका सर्वस्व है। शकुन्तला वृक्षमय है, और वृक्ष शकुन्तला मय। वृक्ष ही उसका कुटुम्ब है। वृक्ष लता ही उसके भाई बहिन हैं। कभी शकुन्तला को यह भास होता है, मानों आम का पेड़ उसे इशारे से बुला रहा है, झट वह अपनी सखियों से कहकर उसके पास जाती है, और कान लगाकर सुनने लगती है। वह उसकी शाखा से लिपटी हुई बन तोषिणी लता को प्रेम पूर्वक देखती है। यह देखकर अनसुया उससे मृदु परिहास करती है। कहती है "शकुन्तला का इस लतावृक्ष सम्मिलन को इतने प्रेम की दृष्टि से देखना यह सूचित करता है। यह भी इसी लता के अनुरूप वर पाने की अभिलाषिणि है। इस पर शकुन्तला कहती है कि, "ये तुम्हारे मन के भाव हैं", इस सरल चरित्र को—इस निष्कपट दृष्टि को और इस प्रकृति प्रेम को देखकर हमारे हृदय में यही भाव जमता है कि, शकुन्तला संसार के पाप मय कोलाहल से बहुत दूर है—वह

एक देवी है। उसका चरित्र शिशु हृदय से भी अधिक सरल, विश्वास से भी अधिक स्वच्छ और आकाश से भी अधिक निर्मल है। लेकिन शीघ्र हो हमारा यह भ्रम दूर हो जाता है। होनहार का दुर्द्धर्ष चक्र बहुत ही शीघ्र सरलता के उस पवित्र मन्दिर के आगे एक सौम्य युवा पुरुष की मूर्ति खड़ी कर देता है। उसकी नजर पड़ते ही वह सारा मन्दिर कांप उठता है—और सरलता की वह देवी उसे देखते ही मोहित हो जाती है, उसकी तपस्या में विघ्न पड़ जाता है। सहसा हमें उसका और ही रूप नजर आने लगता है। हम देखने लगते हैं, कि शकुन्तला तपली होकर भी सांसारिक स्त्री है—देवी होकर भी मानवी है। प्रेम पूर्ण होकर भी लालसा--मय है, शान्त होकर भी अस्थिर है। सरल होकर भो वह अपनी आत्म रक्षा करने में असमर्थ हैं।

अतिथि राजा को देखते ही शकुन्तला के मन में मोह का संचार हो आया। उसके हृदय में तपोवन के विरुद्ध भावों का उदय होने लगा। वह राजा केप्रेम में मुग्ध हो गई। वह इतनी आतुर हो गई कि, कण्व ऋषि के आने तक भी अपनो आत्म रक्षा नहीं कर सकी। उसने बिना अपने पालक की अनुमति के ही दुष्यन्त से गान्धर्व विवाह कर लिया।

जिस नारी को हम सरलता की प्रति मूर्ति समझते थे, उसे ही अब हम स्त्री जाति के साधारण विकारों से भी खाली नहीं पाते। तीसरे अङ्क में तो वह प्रेमिक से मिलने के लिए बहुत ही व्यग्र हो जाती है, यहांतक कि, वह अपनी सखियों से सलाह लेकर प्रेमिक को पत्र लिखने बैठती है; उसका वह पत्र भी साधारण नहीं है।

" तुज्झण आणे हिअं मम उण मअणो दिवामि रत्तिम्मि
णिकिव इ:वइ वलीअं तुहवुत्त मणोरहाइ अंगाइं । "

अर्थात्– " तुम्हारे हृदय का हाल तो मैं नहीं जानती, लेकिन तुम्हारी इच्छा में रत मेरे अंगों को तो काम देव दिन रात अतिशय तपाता है। तुम्हारा हृदय नितान्त करुणाहीन और निष्ठुर है। "

आलोचना करना बड़ी ही धृष्टता है। पर जब यह धृष्टता अङ्गीकार की तो फिर किसी से भय खाना भयंकर कर्त्तव्यच्युति है। यद्यपि हमारी कमज़ोर लेखनी में और मोटी बुद्धि में कवि कुलगुरु पर आक्षेप करने की रत्ती भर भी सामर्थ्य नहीं है, तथापि यहां पर यह कहना ही पड़ेगा कि, शकुन्तला के समान संसार की पापमय झंझटों से विरक्त नारी के मुख से हम ऐसे शब्द सुनने के लिये कदापि तैय्यार नहीं थे। हमारी समझ में तो सचमुच यहां पर कवि कुलगुरु की कलम चूक गई है। तपोवन के अन्दर पली हुई–प्रकृति के अन्दर बढ़ी हुई–और महर्षि कण्व की पवित्र गोद में खेली हुई पुण्यमयी बालिका के अङ्ग में इतने थोड़े ही समय में अनंग का इस प्रकार पीड़ा पहुँचाना कम से कम हमारी छोटी नज़र में तो एकदम असम्भव मालूम होता है। आगे चलकर हमें इससे भी अधिक अस्वाभाविक दृश्य दिखलाई पड़ता है, शकुन्तला आगे चलकर अपनी भावी सौतोंपर कटाक्ष करती हुई कहती है—

" हला भल वो अन्त फुर विरह पज्जुस्सुपण राएसिणा अवरुद्धे सु "।

(सखी ! अन्तः पुर की रमणियों में संलग्न चित्त इन राजर्षि को रोक रखने की जरुरत नहीं है ।)

कम से कम हमारा तो यह विश्वास नहीं होता कि, ऋषि के आश्रम में पली हुई एक सरल बालिका को राजाओं के समान पुरुषों के मानसिक विकारों का इतना अध्ययन हो । इस के अतिरिक्त स्थान२ पर उसके अन्दर नारी की वह मधुर छलना नज़र आती है । जो कम से कम भारतीय नारियों और उसमें भी वन वासिनियों के आदर्श के अनुकूल नहीं हो सकतीं ।

चौथे अंक में जाकर यह लालसा कुछ संयत हो जाती है । लालसा की मदिरा में प्रेम के अमृत का मिश्रण हो जाने से एक अपूर्व माधुर्य्य की उत्पत्ति हो जाती है । सब लालसाओं को संयत कर शकुन्तला दुष्यन्त के ध्यान में तन्मय हो जाती है । वह इतनी संलग्न हो जाती है कि, दुर्वासा का भयंकर शाप भी उसके पैरों से टकरा कर वापस चला जाता है; मगर उसे सुध नहीं होती । सचमुच यह भाव बहुत ही अपूर्व है ।

इसके बाद जब शकुन्तला पतिगृह को जाने के लिए तैय्यार होती है, उस समय-तपोवन को छोड़ते समय उसे जो दुःख होता है, उसका चित्र कालिदास ने इतना सजीव-इतना कोमल-इतना करुण और इतना स्वाभाविक अंकित किया है कि, पढ़ते पढ़ते हृदय करुण रस से अभिभूत हो जाता है । आँखों से आँसू जारी हो जाते हैं । वह दृश्य संसार के साहित्य में अपना एक खास स्थान रखता है ।

मनस्तत्व के वेत्ताओं से यह बात छिपी नहीं है कि, मनुष्य हृदय में उद्दाम वासना बड़े ही प्रबल वेग से प्रवाहित होती है ।

उद्दाम लालसा मनुष्य को भला बुरा सोचने का अवकाश नहीं देती है। और इस कारण रास्ते में उसे बड़े बड़े प्रबल धक्कों का सामना करना पड़ता है। और उन्ही धक्कों में से किसी प्रबल धक्के के साथ टकराकर वह चूर चूर हो जाती है। यह लालसा कभी स्थायी नहीं रह सकती।

उद्दाम लालसा युवावस्था का एक दुर्दमनीय विकार है। यदि चरित्र का बल प्रबल रूपसे इसके साथ हो, तब तो कुछ भय नहीं है। अन्यथा उसका ठोकर खाना जरूरी है। शकुन्तला में इसी उद्दाम लालसा का उदय हुआ, लेकिन जैसी प्रबल वह लालसा थी, उतना प्रबल उसका चरित्र-बल नहीं था। हाँ, गान्धर्व विवाह की एक हलकी सी रेखा उसके चरित्र बल को अवश्य सम्भाले हुए थी, और उसीने अन्ततक उसकी रक्षा की।

जो होना चाहिए था, वही हुआ, शकुन्तला के उस बहते हुए लालसा प्रभाव ने दुर्वासा के शाप की भयङ्कर चट्टान से टक्कर खाई। उस टक्कर ने आगे जाकर पांचवें अङ्क में उसके प्रेम को करीब करीब चूर चूर कर ही दिया।

दुष्यन्त ने शाप से अभिभूत होकर शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर दिया, शकुन्तला बिलकुल निराश हो गई।

इस भयङ्कर टक्कर से यद्यपि उसकी वह दुर्दमनीय लालसा चूर चूर हो गई, तथापि उसके अन्दर छुपा हुआ प्रेम का क्षीण प्रकाश ज्यों का त्यों बना रहा। जब हम तीसरे अङ्क की विरहिणी शकुन्तला के साथ सातवें अङ्क की विरहिणी शकुन्तला से तुलना करते हैं, तो हमें और ही रूप नज़र आता

है। कहां तो वह लालसा की उद्दाम मूर्ति और कहां यह प्रेम की उज्वल प्रतिमा! कहां तो वह बिजली की अस्थिर चमक, और कहां यह चन्द्रमा की शीतल चन्द्रिका! कहां तो वह मोहकी उमड़ी हुई वेगवती नदी, और कहां यह प्रेम का शान्त समुद्र!

"वसने परि धूसरे वसाना नियम क्षाम मुखी धृतैक वेणिः
अति निष्करुणस्य शुद्ध शीला मम दीर्घं विरत वृत्तं बिभर्तिः"

[शकुन्तला :इस समय मलिन वस्त्र धारण किये हुए हैं, कठोर विरह वृत के कारण इसका मुख सूख गया है। इसके माथेपर केवल एक ही चोटी है। यह शुद्ध शीला मुझ निष्ठुर का लम्बा विरह धारण किये हुए है।]

जब लालसा के बन्धन ढीले पड़ गये, और प्रेम की पवित्र भावना जागृत हुई तो, निश्चित था कि, शकुन्तला को उसके प्रेम की सामग्री प्राप्त हो। हुआ भी वैसा ही। शकुन्तला को दुष्यन्त मिल गये। प्रेम की सार्थकता हुई।

दुष्यन्त की ही तरह शकुन्तला के चरित्र का महत्व भी उसके उत्थान और पतन में ही है। पहले तीन अङ्कों में शकुन्तला का जहां तक भी सम्भव था पतन हुआ। इतना पतन हुआ जो तापसी में तो क्या एक साधारण कुमारी बालिका में होना भी अस्वाभाविक मालूम होता है। उसके पश्चात् उसके पाप का प्रायश्चित्त भी शुरु हुआ। यह प्रायश्चित्त उसके प्रत्याख्यान से प्रारम्भ होता है। और अन्त में बहुत दिनों की तपस्या के पश्चात् वह पूर्ण होता है। परिणाम स्वरूप दोनों प्रेमिकों का मिलन हो जाता है।

कालिदास ने भारत की शकुन्तला से अपनी शकुन्तला को बहुत कुछ ऊपर उठा दिया है। महाभारत की शकुन्तला एक

कामुकी मात्र है। मगर कालिदास की शकुन्तला-प्रेम, करुणा, सौहार्द, सती-तेज, सहानुभूति आदि गुणों की एक मनोहर सृष्टि है। मगर फिर भी कालिदास की शकुन्तला मानवी है-दैवी नहीं।

महर्षि कण्व।

शकुन्तला नाटक में प्रधान तथः दोही चित्र मुख्य हैं। दुष्यन्त और शकुन्तला के चित्रों का पूर्ण विकास दिखलाना ही इस नाटक का प्रधान उद्देश्य है। यद्यपि इसमें दूसरे भी कई चित्र हैं, पर वे केवल इन्हीं दो चित्रों के परिपोषक मात्र हैं। उनमें और कोई चित्र उल्लेखनीय नहीं। हाँ, शकुन्तला को विदा करते समय कालिदास ने महर्षि कण्व के मानसिक विकारों का जो सुन्दर चित्र खींचा है, वह संस्कृत ही क्या, सारे संसार के साहित्य में सूर्य्य की तरह चमक रहा है। ऐसा कोमल, ऐसा करुण, और ऐसा हृदयहारी चित्र शायद ही संसार के किसी कवि ने चित्रित किया हो। कन्या को पहले पहल ससुराल भेजते समय पिता माता के हृदय में करुणा का जो कोमल भाव लहराता है, वह इस स्थान पर उमड़ा आ रहा है।

विदा करते हुए कण्व मुनि शकुन्तला को कहते हैं:—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्ट मुत्कण्ठया
अन्तर्वाष्प भरोपरोधि गदितं चिन्ता जडं दर्शनम्
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेष दुःखैर्नवैः

[शकुन्तला आज पति के घर जायगी, इससे मेरा हृदय उत्कण्ठित हो रहा है। हार्दिक आँसूओं के कारण मुंह से बात नहीं निकलती। दोनों नेत्र चिन्ता के कारण जड़तुल्य हो रहे हैं। मेरे समान बनवासी तापस को भी यह स्नेह जब इस प्रकार व्याकुल कर रहा है, तब साधारण गृहस्थ कन्या वियोग के नवीन कष्ट से क्यों न अत्यन्त शोकाभिभूत होते होंगे)

इसके पश्चात् शोकाभिभूत हृदय कण्व, वृक्षों से कहते हैं—

'भो भोः सन्निहित वन देवता स्तपोवन तरवः
पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्व पीतेषु या।
ना दत्त प्रिय मण्डना ऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आदौ वः कुसुम प्रवृत्ति समये यस्या भवत्युत्सवाः।
सेयं यति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरन्द्र ज्ञाय ताम्।

(अर्थ पहले लिखा जा चुका है)

इसके पश्चात् जब शकुन्तला ने कहा—

मैं पिता की गोद से बिछुड़ कर मलय पर्वत से उखाड़ी हुई चन्दन लता की तरह कैसे जीवन धारण करूंगी।" तब तो कण्व के हृदय स्थित दुःख का झरना फूट पड़ा। वे शोकाभिभूत होकर बोले—

"वत्से मामेयं जड़ी करोषि—
अपयास्यति मे शोकं कथं नुवत्से त्वया रचित पूर्वम्
उजोद्वार विरूढं नीवार बलि विलोकयतः।"

(अर्थ पहले लिखा जा चुका है)

सचमुच कण्व ऋषि का चरित्र चित्रण करने में कवि की कलम ने कमाल किया है। इस दृश्य में पुत्री के अखण्ड प्रेम

ने तपस्वी को तपस्या को भी ढक दिया है; यहांपर वालिका स्नेह कर्त्तव्य ज्ञान से भी बहुत ऊपर पहुँच गया है। तपस्वी का यह करुणामय रुदन कवि के कवित्व से भी ऊंचा चढ़ गया। है शोक और धैर्य, कर्त्तव्य और स्नेह, चिन्ता और अनुभूति, स्थिरता और उच्छ्वास सब मानो इस जगह आकर एकत्र हो गये हैं। अपूर्व है।

× × × × × ×

इस प्रकार सब चरित्रों पर दृष्टि डालते हुए, यह कहना पड़ेगा कि, कहीं २ पर त्रुटि का आभास मिलने पर भी शकुन्तला के सब चरित्र अपूर्व हैं—अतुलनीय हैं और अद्भुत हैं। वे संसार में अपनी सानी नहीं रखते।

कवित्व।

इस पुस्तक में पहले खण्ड में हम कह आए हैं कि, देश, काल और परिस्थिति पर नज़र रखकर जो कवि कविता करता है, उसी की कविता सफल कविता कही जा सकती है। शकुन्तला नाटक में हम देखते हैं कि, कालिदास ने प्रत्येक स्थान पर परिस्थिति और घटनाओं की सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को सम्मुख रखकर कविता की है। कहीं भी वे देश, काल और परिस्थिति से एक इंच भी घटे बढ़े नहीं हैं। उनका तमाम वर्णन नाटकत्व के हिसाब से हुआ है। इसी से सारे नाटक में उनकी प्रतिभा निर्मल चान्दनी की तरह चमक रही है।

प्रारम्भ में ही गये हैं ? पांचवें अङ्क में राजा फ़िर शकुन्तला

को देख रहे हैं। पर अब उनके मनोभावों में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। यद्यपि इस समय भी वे शकुन्तला के रूप पर मुग्ध हैं—अब भी वे उसे मुग्ध विस्मय के साथ देख रहे हैं, पर दुर्वासा के शाप के कारण कहिए अथवा युवक हृदय की चञ्चलता के कारण कहिये, अब उनके हृदय में वासना की अपेक्षा कर्म का बल अधिक हो आया है। उनका चित्त चञ्चल होता है, पर एक दक्ष घुड़सवार की तरह वे फौरन मन की रास को खींच लेते हैं। विस्मृति के गहरे सागर में डूबकर वे स्त्री जाति पर भी कुछ भद्दा आरोप कर बैठते हैं। उस समय में शकुन्तला को जितना क्रोध स्वाभाविक रूप से आना चाहिए था, कवि ने बिलकुल उतना ही व्यक्त भी किया है।

जब मनुष्य की जवानी उतर जाती है, और वृद्धावस्था भी शुरु नहीं होती है, उस समय मनुष्य की और एक अवस्था होती है, जिसे हम प्रौढावस्था के नाम से कह सकते हैं। इस अवस्था में जवानी का चाञ्चल्य और उच्छृंखलता चली जाती है, और इनके स्थान पर एक प्रकार की उद्दाम गम्भीरता का आगमन होता है, विचारों में प्रौढता आने लगती है। कवि ने इस अवस्था का भी वर्णन किया है। यह वर्णन सातवें अङ्क में पाया जाता है। उस समय दुष्यन्त और शकुन्तला भी प्रौढ हो गये थे। उनके विचारों में भी स्थिरता और शान्ति का संचार हो गया था। बहुत दिनों के वियोग के पश्चात् कैलास के निर्जन आश्रम में कवि ने उन दोनों प्रेमियों का मिलन करवाया है। यह हम देखते हैं कि, उस मिलन में लालसा का आवेग नहीं है। मोह का उच्छ्वास नहीं है। उन प्रेमिकों का वह

मिलन बहुत ही धीर है—शान्त है। यौवनावस्था के सम्मेलन से प्रेम की नदी में जो गंदलापन आ गया था अब छनकर साफ हो गया है। प्रेम की वह नदी बिलकुल निर्मल हो गई है। दुष्यन्त अब शकुन्तला को लालसा की दृष्टि से नहीं देख रहे हैं। वे अब पश्चाताप विभूत हृदय से उसे देख रहे हैं कहते हैं—

वसने परिधूसरे वसानां नियमक्षाम मुखी धृतैक वेणि
आर्त निरकरु णस्य शुद्ध शीला मम दीर्घं विरह वृत विभर्त्ति

प्रथम अङ्क में ही कवि दुष्यन्त की मनोवृत्तियों का चित्र खींचते हुए बतलाते हैं कि, दुष्यन्त किन गुणों के कारण शकुन्तला पर एकदम मुग्ध हो गये। इस स्थान पर उन्होंने युवा पुरुषों के तमाम मनोविकारों का चित्र खींचा है। किस स्थान पर जाकर युवा पुरुषों के चंचल हृदय की सद्भावनाएँ परास्त हो जाती हैं, इसका ज़िक्र कवि ने किया है और खूब किया है। युवती शकुन्तला को देखते ही दुष्यन्त की निगाह पहले पहल कहां पर पड़ती है—

"इद मुपाहित सूक्ष्म ग्रन्थिना स्कन्ध देशे,
स्तन युग परिणाहाच्छादिना वल्कलेन
वपुर भिनव मस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुम मिव पिनद्धं पाण्डु पत्रोदरेण।"

साफ दृष्टिगोचर होता है कि, राजा के हृदय में इस समय लालसा की आंधी उठ रही है। इस समय वे आलस्य जनित काम में अन्धे होकर वे उसके उन्हीं अङ्गों की समालोचना कर रहे, जिनके फेर में पड़कर प्रायः युवकों का पतन हुआ करता है। वास्तव में देखा जाय तो यहां पर इसी प्रकार के वर्णन की

आवश्यकता भी थी। दूसरे अङ्क में जहां पर वे अपने मित्रों में शकुन्तला का रूप वर्णन कर रहे हैं, वहां पर हम देखते हैं कि, उसके अङ्गों का बिलकुल वर्णन नहीं है। होना भी नहीं चाहिये। अङ्ग प्रत्यङ्ग का वर्णन प्रायः उसी वस्तु का किया जाता है जो प्रत्यक्ष में सामने मौजूद हो। परोक्ष वस्तु के अङ्ग प्रत्यङ्ग का वर्णन किया जाना अनुचित मालूम होता है। वहां पर राजा के मुख से जितना कहलाने का प्रयोजन था, कवि ने बिलकुल उतना ही कहलाया है। राजा के मुख से शकुन्तला का वर्णन सुनकर उनके मित्र साफ समझ गये कि राजा शकुन्तला पर मोहित हैं और खूब मोहित हैं। राजा विदूषक के सामने कहते हैं—

अनाघ्रातं पुष्पं नव किसलय मलूनं कर रुहै
रुना विद्धं रत्नं मधु नवमना स्वादि तरसम्
अखण्डं पुण्यानां फल मिवच तद्रूप मनघं
न जाने कोलारं कमिह समु पस्था स्यति विधिः

आइने की तरह मालूम हो रहा है कि राजा कितने विगलित हो

साफ मालूम हो रहा है कि, राजा पश्चाताप की अग्नि में जल रहे हैं। उनका ध्यान अब वाह्य सौन्दर्य पर से हटकर अन्य सौन्दर्य्य की ओर आकृष्ट हो गया है। अब शकुन्तला के सुडौल चेहरे से हटकर उनका मन उसके पवित्र हृदय की ओर आकृष्ट हो रहा है।

युवावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक का कितना स्वाभाविक चित्र है। शुरु से अन्त तक के रूप वर्णन में राजा की मानसिक अवस्था परम्परा का एक श्रेणी बद्ध इतिहास मौजूद है। कैसा आश्चर्य जनक कवित्व है!

हिन्दी-साहित्य-प्रचारक कर्यालय ॥

उद्देश्य—इस माला का जन्म मातृभाषा हिन्दी के उत्तमोत्तम ग्रंथों का हिन्दी-भाषा-भाषियों में प्रचार करने के लिए हुआ है।

स्थायीग्राहक—॥) प्रवेशफीस दाखिल करने वाले माला के स्थायी ग्राहक समझे जावेंगे, और उन्हें कार्यालय से प्रकाशित पुस्तकें पौनी कीमत में भेजी जावेंगी।

पोस्टेज और मनिआर्डर कमीशन खरीददार के जिम्मे रहेंगा। माला के निम्न ग्रंथ तैयार हुए हैं—

गुरु शिष्य सम्वाद—[ग्रंथमाला का प्रथम पुष्प] यह पुस्तक भारत वर्ष के उद्धारक स्वामी विवेकानन्द जी के मुखारविन्द से निकले हुए उपदेशों का स्रोत है। इस में देशभक्ति, सामाजिक तत्व, धार्मिक और ज्ञान विषयक अनेक कूट विषयों को सरल भाषा में हल किया है। बड़ी सुन्दरता से छपा है। दाम चार आना।

आर्थिक सफलता—[ग्रंथमाला का द्वितीय पुष्प] यह पुस्तक एडवर्ड ई० विलसकी "फाइनानशियल सकसेज" के आधार से लिखी गई है। इस में प्रमाणिकपन से पैदा करने की युक्तियां लिखी गई हैं। इस में बतलाये हुये मानसिक विचारों द्वारा बिलकुल गरीब और निर्धन मनुष्य भी धनवान बन सकता है। मूल्य लगभग ।=).

कर्मक्षेत्र—[ग्रंथमाला का तृतीय पुष्प] यह पुस्तक श्रीशशिभूषणसेन रचित बंगला कर्मक्षेत्र का अनुवाद है। बंगला

साहित्य में इस का खूब आदर हुआ है। कर्महीन भारतवासियों को कर्तव्य मार्ग पर आरूढ़ करने के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। कुशल लेखक ने इस में धर्म, साहित्य, व्यापार तथा राजनैतिक क्षेत्रों में साधना करने वाले स्वदेशी कर्मवीर पुरुषों के सकल्प, उनकी साधना की दृढ़ता, संकटों के समय पीछा पैर न देने की नीति और अंत में उन की सिद्धि का वर्णन ऐसी उत्तमता के साथ किया है कि उस का प्रभाव पाठकों पर पड़े बिना नहीं रहता। इस पुस्तक का घर घर प्रचार होने की आवश्यकता है। मूल्य सादी जिल्द ॥=) और सजिल्द १=)

कविता कुसुम ग्रन्थमाला का चतुर्थ पुष्प

भाग्य निर्माण।

यह पुस्तक एक ही है जो निराशावादी, अकर्मण्य और भाग्य के भरोसे रह अपना जीवन नष्ट कर डालने वाले लोगों को कर्म-परायण बना यह सिद्ध कर दिखा सक्ती है कि वास्तव में मनुष्य अपही अपने भाग्य का निर्माता है। भारत को वर्तमान पतित दशा को देखते यह कहना पड़ेगा कि लेखक ने ऐसे अनुकूल अवसर पर इसे लिखी है कि जब अत्यन्त आवश्यक्ता थी। इस पुस्तक के पढ़ने से निस्तेज आत्मा में तेज का संचार होता और आलसियों में स्फूर्ति आती है। मूल्य सादी १=) सजिल्द १॥)

पांचवां पुष्प

ग्यारीवाल्डी

का जीवन चरित्र

यद्यपि इस महापुरुष के अद्भुत और अद्वितीय देशभक्ति युक्त जीवन पर मोहित होकर अनेकानेक हिंदी सेवियों ने लिखने का प्रयत्न किया है तथा कुछ प्रकाशकोंने उसे प्रकाशित भी किया है तथापि इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि इसमें कुछ और ही विशेषताएँ हैं। ग्यारीवाल्डी के जन्म से लेकर मरण तक का छोटे से छोटा हाल भी लिखने को इस में शेष नहीं रखा गया। इतने से ही पाठक विचार करलें कि इस पुस्तक के मूल लेखक "मराठी" और "केसरी" के स्वानामधन्य संपादक श्री नरसिंह चिंतामणि केलकर और अनुवादक, "हिन्दी केसरी" और "हिन्दी चित्रमय जगत" के भूतपूर्व-संपादक और भारत के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक श्रीयुत पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी हैं। पुस्तक का मूल्य केवल १॥) है।

ग्यारीबाल्डी पर माधुरी की राय

(वर्ष २ खंड २ संख्या ५ पूर्ण संख्या २३.) + + इस में २२ परिच्छेद हैं। अधिकांश परिच्छेदों के आरम्भ में चुनी हुई सूक्तियाँ दी गई हैं। परिच्छेदों का विषय-सूचक शीर्षक के देने से सूक्तियाँ खिल उठी हैं।

पुस्तक है बड़े काम की। पढ़ने में कहानी की सी है ही शिक्षा भी कूट-कूट कर भरी हुई है। ऐसी जीवनियों का जितना प्रचार हो, उतना ही अच्छा। देश को उद्बुद्ध करने वाली पुस्तकों में इस की गिनती हो सकती है।

हिन्दी साहित्य प्रचारक कार्यालय

की फुटकर पुस्तकें

प्रबंध पारिजात ।

इसमें भाषा और रचना, शिक्षा और नीति आस्तिक-अभिनिवेश, आलोचना और चर्चा, ज्ञान और परीक्षा, शक्ति और क्षमता, प्रतिभा, कल्पना श्रम, विश्वास आदि २७ विषयों का वर्णन किया गया है। छात्रों और अध्यापकों को अवश्य इसे पढ़ना चाहिये। मूल्य केवल ॥-) आना।

सदाचार-सोपान ।

इस पुस्तक में सुनीति, यौवन, अध्यवसाय, शिक्षा, शिक्षा के साधन, चरित्रगठन के साधन, समय का महत्व और स्वावलंबन आदि विद्यार्थियों के जानने योग्य अनेक बालोपयोगी विषयों का वर्णन सरल और उत्तम भाषा में किया गया है। यह पुस्तक विद्यार्थियों और अध्यापकों के बड़े काम की है। बंगला के लेखक श्रीयुत अविनाशचन्द्र दास एम० ए०, बी० एल० के बंगला भाषा में "सुकथा" का अनुवाद है। मूल्य ।) आना।

आदर्श-चरितावली ।

इस पुस्तक में जनरल बूथ, बुकरटी वाशिंगटन, गारफील्ड महात्मा लिंकन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, कर्मवीर गांधी, मालवीय जी, महादेव गोविन्द रानाडे, माननीय गोखले, महात्मा भरत जी महाराज शिवि, दधीच मुनि, आदि परोपकारी महात्माओं की पुण्य कहानियां वर्णित की गई हैं। विद्यार्थियों और नवयुवकों के लिये बहुत ही उपयोगी पुस्तक है। मूल्य केवल ।=) आना।